दयानन्द सिद्धान्त-माला
का
प्रथम-पुष्प।

—सिद्धान्त कौमुदी की अन्त्येष्टि।—

—राजेन्द्रनाथ,

❀ ओ३म् ❀

सिद्धान्त कौमुदी
की
अन्त्येष्टि ।

पांच वर्ष के मनन और तीन वर्ष के
परीक्षण के उपरान्त लिखा हुआ
अपने विषय का सर्व प्रथम
अपूर्व ग्रन्थ ।

लेखक—

आचार्य श्री पं० राजेन्द्रनाथ शास्त्री,

संस्थापक—
श्री दयानन्द वेद विद्यालय, तथा दयानन्द सेवा संघ,
देहली ।

प्रथम संस्करण १००० | दयानन्दाब्द ११३ | सम्वत् १९९४ वि०

प्रकाशक—
दयानन्द सेवा संघ
निगमबोध घाट देहली,
मूल्य ३ आना
मुद्रक—
आचार्य राजेन्द्र नाथ शास्त्री,
आर्य प्रिन्टिंग प्रेस,
चर्खे वाल... देहली।

" गुरुद्वेषदूषितमतीनां पुरुषायुषेणाऽपि
न शक्यन्ते गणयितुं प्रमादाः । "

(गुरु द्रोह से भ्रष्ट हुई मति वाले (भट्टोजि दीक्षित)
के प्रमाद पुरुष अपनी सम्पूर्ण आयु में भी
नहीं गिन सकता ।)

पण्डितराज जगन्नाथ ।

॥ ओ३म् ॥

सदानन्दं सदा वन्दे,
पाद सरोरुहं गुरोः ।
यन्मकरन्दमास्वाद्य,
मत्ताः पण्डित पङ्क्तयः ॥१॥
एनो विन्दुविहीनाय,
शुद्ध बोधाय विपश्चिते ।
तदुद्भावित—भावानां
मूर्त्तिरियं समर्प्यते ॥२॥

(लेखकेन)

धन्यवाद।

श्रीमान् लाला ज्योतिः प्रसाद जी

मालिक फ़र्म

ज्योतिः प्रसाद भीष्मदेव

देहली ने

सिद्धान्त कौमुदी की दौर्भाग्य मयी काली घटाओं को छिन्न भिन्न करने वाले आर्ष पद्धति के प्रसारक इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ धन प्रदान कर सात्त्विक दान का आदर्श उपस्थित किया है। एतदर्थ उनका हार्दिक धन्यवाद है।

लेखक—

सिद्धान्त कौमुदी और उसकी टीका मनोरमा के अपूर्व खण्डनात्मक ग्रन्थों की सूची ।

—:❀:—

१- मनोरमा कुचमर्दन

पण्डितराज जगन्नाथ

२- मनोरमा खण्डन

मौनी कृष्ण भट्टीय

३- मनोरमा खण्डन

चक्रपाणि

४- व्याकरण सिद्धान्त सुधानिधि

विश्वेश्वर

५- शब्दकौस्तुभदूषण

भास्कर दीक्षित

६- लघुशब्देन्दु शेखर

नागेश भट्ट

७- शेषर दीपिका

(टीका लघुशब्देन्दु शेखर)

नित्यानन्द पन्त पर्वतीय

कौमुदी तथा मनोरमा का मुख मर्दन करने वाले
वैयाकरण दिग्गजों की नामावली।

१- संस्कृत-साहित्य-मर्मज्ञ पण्डितराज जगन्नाथ।

२- पण्डित प्रवर श्री मौनी कृष्ण भट्टीय।

३- श्री पं० चक्रपाणि।

४- श्री पं० भास्कर दीक्षित।

५- महा-महोपाध्याय श्री नित्यानन्द पन्त पर्वतीय।

६- न्यायादि सकलशास्त्र निष्णात श्री पं० विश्वेश्वर।

७- महामहोपाध्याय श्री पं० नागेश भट्ट।

—:❀:—

आजकल संस्कृताध्ययन एक जटिल समस्या बना हुआ है । सिद्धान्त कौमुदी के अध्ययन करने वाले उसकी लम्बी २ अवच्छेदकावच्छिन्न से युक्त पङ्क्तियों तथा वृत्तियों के रटने से तंग आये हुये हैं' अन्य विद्वान् भी सिद्धान्त कौमुदी की दुरूहता तथा जटिलता से घबरा कर संस्कृताध्ययन को ही छोड़ बैठते हैं । अन्य आर्षपद्धति के विद्वान् भी जो सिद्धान्त कौमुदी की अध्ययन शैली को स्वीकार नहीं करते उसके विरुद्ध कुछ कहने से घबराते हैं । हमने भारतवर्ष के लगभग १०० विद्वानों के पास सिद्धान्त कौमुदी के विषय में सम्मति जानने के लिये पत्र डाले थे । परन्तु बहुत थोड़े महानुभावों ने कृपा की है । कितने ही महानुभावों ने सिद्धान्त कौमुदी के विषय में बहुत सम्हल कर कुछ लिखने के लिये आग्रह किया है परन्तु हमें पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन के पीछे अब वह लोग निस्सङ्कोच भाव से अपनी सम्मति दे सकेंगे ।

हम चाहते थे कि पण्डितराज के समस्त आक्षेप, नागेशकृत खण्डन, ऋषिकृत-अष्टाध्यायी-भाष्य, वेदाङ्गप्रकाश में प्रदर्शित समस्त त्रुटियों, 'शिक्षा' विषयक दोष तथा विद्यार्थियों

की एकत्रित की हुई विवध-विषयों की अन्य त्रुटियों की अविकल सूची भी प्रकाशित कर दें, परन्तु समयाभाव के कारण कुछ न कर सके। पाठक आश्चर्य करेंगे कि यह ग्रन्थ केवल सप्ताह मात्र में लिखा गया है और छपा है। यह सब स्वर्ण जयन्ती की कृपा है। इस भाग दौड़ में सम्मतियों का सङ्क्षेप ग्रन्थ सङ्कलन, प्रूफसंशोधनादि सब आयुष्मान् ब्र० सत्यकाम शर्मा ने किया है। इसके लिये शुभाशीर्वाद प्रदान करते हैं। साथ ही उन छात्रों को भी आशीर्वाद देते हैं जिन्होंने सिद्धान्त कौमुदी की त्रुटियां दिखाने के लिये अपना अमूल्य समय लगाया है। उन विद्वानों के हम बहुत आभारी हैं जिन्होंने अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान की है।

❀ ओ३म् ❀

विषय—सूची

क्रमाङ्क | पृष्ठाङ्क

ओ३म्

सिद्धांत कौमुदी की अन्त्येष्टि

भारती भक्त पाठक वृन्द !

ईशानुकम्पा से समय पलट गया है, जो व्यक्ति सुर भारती को मृत भाषा कह कर नाक भौं सुकेड़ते थे, आज वे ही इसके आगे नत मस्तक हो प्रणाम कर रहे हैं। उन्हें देव वाणी के अमूल्य रत्नों का आभास हो गया है वह उन्हें प्राप्त करने को उत्कण्ठित तथा लालायित हैं। गत अर्द्ध शताब्दि में कितने ही गवेषणात्मक ग्रन्थ रत्नों का परिचय मिला है, और न जाने उसी प्रकार के कितने ग्रन्थ अभी विस्मृतिगर्त के अन्धकार में विलीन हैं। भगवान के निश्वास भूत वेद के अर्थों की भी यही अवस्था है। विद्वद्वृन्द इसके लिये सयत्न भी है, परन्तु वह इसके दो मुख्य अङ्ग—योग और व्याकरण से अपरिचित सा ही है, योग तो केवल इतिहास में पढ़ने मात्र की वस्तु रह गया है, और व्याकरण भी है सही पर अपने सद्भक्तों से वञ्चित। प्रभु है सही पर अपने सद्भक्तों के अभाव में विलुप्त सा हो रहा है। सच्चे प्रभु को छोड़कर लोग पाषाण-खण्डों को ईश्वर मान बैठे हैं, इसी प्रकार अष्टाध्यायी के अध्ययन को छोड़कर सिद्धान्त कौमुदी के पठन पाठन मेंप्रवृत्त हो गये हैं। इस समय सिद्धान्त कौमुदी पर इतना विश्वास दीख

पड़ता है कि उसके विरुद्ध लेखनी उठाना केवल साहस मात्र जान पड़ता है। जिस संस्था में देखो सिद्धान्त कौमुदी का गुणगान हो रहा है, जिस परीक्षा में देखो सिद्धान्तकौमुदी का ही बोलबाला है। ऐसा प्रबल प्रचार देखकर साधारण व्यक्ति उसके विरुद्ध कुछ कहने का साहस नहीं करता, परन्तु मनस्वीजन कभी तथ्य बात कहने से नहीं हट सकते, यही कारण है कि आज संसार में इतना विज्ञान दृष्टि गोचर हो रहा है, नहीं तो संसार आज भ्रमों तथा अविद्याओं का ही घर होता। आकाश की सैर पागलों का प्रलाप था, ४० मील की गति से यात्रा करना संसार की प्रलय थी, पृथ्वी को गोल बताना प्राणों से हाथ धोना था।

सिद्धान्त कौमुदी के विरुद्ध भी अनेक पण्डित पुङ्गवों ने आवाज़ उठाई और कठोर से कठोर शब्दों में उसका खण्डन किया, परन्तु वह ग्रन्थ तथा टीकायें संस्कृत में होने से जनता उनसे अपरिचित रही; और पण्डित मण्डली भी दोष परिपूर्ण होने पर भी अपनी चिर अभ्यस्त सरणी के परित्याग करने में असमर्थ रही।

संस्कृत साहित्य से तनिक भी परिचय रखने वाला कौन ऐसा संस्कृत प्रेमी है जो पण्डित राज जगन्नाथ के नाम से अपरिचित होगा। संस्कृत साहित्य पर आपका पूर्ण अधिकार था, पद लालित्य तथा भाषामाधुर्य में कौन पण्डितराज की बराबरी करेगा। ऐसे साहित्य कला पारङ्गत विद्वच्छिरोमणि

की सिद्धान्त कौमुदी विषयक सम्मति स्वर्णाक्षरों में लिखने के योग्य है- वे व्याकरण के गूढ़ स्थलों पर टीका टिप्पणी वाले अपने अपूर्व ग्रन्थ मनोरमा कुचमर्दन में लिखते हैं—

गुरुद्वेष दूषित मतीनां यद्यपि पुरुषायुषेणापि न शक्यन्ते गणयितुम् प्रमादास्तथापि दिङ् मात्रेण कानपि कुशाग्रधिषणेषु निरूपयामः" अर्थात् यद्यपि गुरु द्रोही (भट्टोजी दीक्षित) के प्रमाद तथा भूलें मनुष्य अपनी सारी आयु भर गिनना चाहे तो नहीं गिन सकता, परन्तु फिर भी कुशाग्र बुद्धियों के लिये यहां (मनोरमा कुचमर्दन में) कुछ थोड़ा सा निरूपण करते हैं।" थोड़ा २ करते पण्डितराज ने सहस्रों त्रुटियां जनता के समक्ष रक्खीं, जिनके खण्डन करने का साहस आज तक किसी को नहीं हुआ।

यद्यपि पक्षपात परायण पण्डित ब्रुवाओं ने इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण प्रकाशित नहीं होने दिया पर फिर भी क्षीर-नीर विवेकिनी मति वाले पक्षपात-रहित विद्वन्महानुभावों ने पञ्चसन्धि पर्य्यन्त भाग 'अव्ययी भावान्त मनोरमा में अन्य टीकाओं के साथ प्रकाशित कर दिया है।

गुरु द्रोह—पण्डितराज ने भट्टोजी दीक्षित को गुरुद्रोही नाम से पुकारा है। हमें भी आश्चर्य है कि ऐसे गुरुद्रोही का प्रचार कैसे होगया। घटना इस प्रकार है कि भट्टोजी के गुरु तथा पण्डितराज के दादा गुरु स्वनामधन्य शेष श्री कृष्ण जी महाराज ने शब्द सिद्धि प्रकार दिखाने के लिये व्याकरण

का एक अपूर्व ग्रन्थ प्रक्रिया कौमुदी की टीका प्रक्रिया प्रकाश लिखा पर गुरु भक्त भट्टोजी को यह कब सहन हो सकता था कि प्रक्रिया कौमुदी से अपहरण कर संगृहीत अपने ग्रन्थ (सिद्धान्त कौमुदी) के समक्ष और ग्रन्थ आदर पा सके, अतः इन्होंने गुरु भक्ति तथा गुरु ऋण को प्रणाम कर गुरु रचित ग्रन्थ की धज्जियां बखेरने पर कमर बांध ली, और ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ लेकर उसमें अनेक दोषों का प्रकाश किया। इस पर शेष श्रीकृष्ण जी के पौत्र तथा पण्डितराज के गुरु शेष वीरेश्वर के पुत्र ने उसका बलपूर्वक निराकरण किया, उन्हीं स्थलों का उद्धरण पण्डितराज ने किया तथा मनोरमा के अन्य स्थलों की भूलें जनता के समक्ष रक्खीं।

इस पर भट्टोजी दीक्षित के पौत्र पण्डित प्रकाण्ड हरि दीक्षित महोदय ने मनोरमा पर टीका लिख कर दोषों को उद्धार करना चाहा, उस पर उन्हीं के शिष्य स्वनाम धन्य नागेश भट्ट ने शब्देन्दुशेखर की रचना की। विचार तो यह होगा कि दादा गुरु का समर्थन किया जाय पर विधना के मन और है मेरे मन कुछ और। सत्य का अपह्नव हो नहीं सकता। नागेश की लेखनी ने जोर मारा और सिद्धान्त कौमुदी का खण्डन करने में प्रवृत्त हो उठी। आरम्भ में ही नागेश लिख बैठे "मनोरमोमार्ध देहम्" अर्थात् मनोरमा रूपी उमा के अर्ध को (अर्धदा ईहा) काटने का जिसमें प्रयत्न हो" और किया भी ऐसा ही

लगभग आधी सिद्धान्त का खण्डन कर डाला। और करते भी क्यों नहीं भाष्य में भूरि श्रम किया था—गुरुमुख से १७ बार महाभाष्य का अध्ययन किया था। यही कारण है कि नागेश अद्भुत पण्डित हुए। और पण्डितों में सर्वोपरि गणना हुई।

इसी प्रकार अन्य पण्डितों ने भी सिद्धान्त पर अपनी लेखनी उठाई और उसकी कड़ी समालोचना की तथा भाष्य विरुद्ध स्थलों पर बहुत ले दे की। जिनमें पण्डित प्रवर विश्वेश्वर का नाम विशेष उल्लेखनीय है इनके रचे ग्रंथ "व्याकरण सिद्धान्त सुधा निधि" का मूल्य १५) रु० है। इनके ग्रंथ की मार्मिकता पर लोग इन्हें अवतार तक कहने से न चूके।

इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए हमने भी स्वनाम धन्य व्याकरण भानु प्रातः स्मरणीय गुरुवर श्री १०८ स्वामी शुद्धबोध तीर्थ जी महाराज कुलपति महाविद्यालय ज्वालापुर के आशीर्वाद से इस मग में पग बढ़ाया है। पहिले हमारा विचार इस ग्रंथ को संस्कृत में ही लिखने का था, परन्तु पूर्व दर्शित कारण से ही हिन्दी का आश्रय लेना पड़ा है। जब नागेश तथा पण्डित राज प्रभृति दिग्गजों की बात पर पण्डित मंडली ने ध्यान नहीं दिया तो हमारी बात किस गिनती में है। अतः हिन्दी भाषा जानने वाले संस्कृत के छात्रों तथा भक्तों से निवेदन है कि संस्कृत पठन में प्रवृत्त होने से पूर्व हमारी बातों को विचार कर अपने गन्तव्य मार्ग का निर्णय करें।

इस छोटी सी पुस्तकिका में हम सिद्धान्त के सम्पूर्ण दोष

दर्शाने में असमर्थ हैं, यह तो केवल कुछ थोड़ा सा संकेत मात्र है, जिसके अवलोकन से 'स्थाली पुलाकन्याय' द्वारा सिद्धान्त कौमुदी का दोष परिपूर्णत्व तथा सर्वांश में सि० कौ० का हेयत्व सिद्ध हो सकेगा।

सिद्धान्त कौमुदी का आरम्भिक प्रचार

आज से २५० वर्ष पूर्व समस्त भारत में अष्टाध्यायी का साम्राज्य था, एक से एक बढ़कर पण्डित उत्पन्न होते थे। वररुचि की अष्टाध्यायी वृत्ति, हरि-कारिकायें, काशिका, पदमञ्जरी न्यासादि अनेक प्रामाणिक ग्रंथ रचे जाते थे। वृत्ति उदाहरण प्रत्युदाहरण आदि भली भाँति समझ कर प्रक्रिया पर बल दिया जाता था, उसी द्वितीयावृत्ति की सुगमता के लिये प्रक्रियाकौमुदी और उसी की टीका प्रक्रियाप्रकाशादि ग्रंथ रत्नों की रचना हुई। भट्टोजी ने भी शब्द कौस्तुभ ग्रंथ लिखा, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्ति आदि ग्रंथों तथा भाष्य आदि के समक्ष वह अधिक प्रचार न पा सका, इस प्रकार काम चलता न दीखा तो दूसरी प्रकार का शस्त्र प्रयोग किया गया, और सर्व प्रथम अपने ही गुरु श्री शेष कृष्ण जी के अपूर्व ग्रन्थ प्रक्रियाप्रकाश का खंडन कर डाला, इससे गुरु शिष्य में घोर विरोध प्रारंभ हो गया, अन्य शिष्य मंडली तथा विद्वन्मंडलो ने गुरु का साथ दिया, दीक्षित जी के पक्ष का प्रबल खंडन किया, दीक्षित जी इस ओर ध्यान न दे अपने कार्य में लगे रहे और अपने गुरु के ग्रन्थ तथा उसके आधार भूत ग्रन्थ के प्रचार को रोकने के

लिये उसी ग्रन्थ के विषय अपहरण कर कुछ नया डाल कर सिद्धान्त कौमुदी की रचना कर डाली। जनता वृत्त्यादि की अभ्यस्त थी, ऐसी अपूर्ण मिली हुई खिचड़ी को कैसे अङ्गीकार करती। उसकी सर्वथा अवहेलना होने लगी। परन्तु दीक्षित जी अपनी धुन के पक्के थे। अपने ग्रन्थ पर स्वयं ही 'मनोरमा' नाम की टीका लिख मारी, एक और बाल मनोरमा भी लिखी, परन्तु संस्कृत जनता पर इसका प्रभाव कुछ भी न पड़ा। इस पर दीक्षित जी बड़े चिन्तित हुये। एक दिन उनका दाव चल गया प्रसिद्ध वैयाकरण **श्री** ज्ञानेन्द्र जी सरस्वती भट्टोजी दीक्षित के यहां भिक्षा के लिए पहुँच गये। एक वैयाकरण को घर पर आया देख भट्टोजी बहुत प्रसन्न हुए, अपने बनाये ग्रन्थ के विषय में वार्तालाप आरम्भ करना चाहा पर उन्होंने उपेक्षा की और वृत्ति आदि का समर्थन किया, इस पर कहते हैं दीक्षित जी ने उन्हें भिक्षार्थ अन्दर बुला द्वार बन्द कर दिया, और मरम्मत बनानी शुरू की, जब स्वामी जी ने सिद्धान्त कौमुदी पर टीका लिखना स्वीकार कर लिया तब छोड़ा, तब इस तत्व बोधिनी की रचना हुई। और सिद्धान्त कौमुदी का प्रचार प्रारंभ हुआ।

सिद्धान्त कौमुदी से हानियां।

परन्तु पाठक वृन्द तनिक विचार से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धान्त कौमुदी ने कितना अनर्थ किया है।

१. सर्व प्रथम इसके प्रचार से पाण्डित्य की ही समाप्ति हो गई सिद्धान्त कौमुदी के रचनाकाल के पीछे कोई अद्भुत

वय्याकरण नहीं हुआ, एक स्वनाम धन्य नागेश मिश्र हुये हैं जो इनके पौत्र शिष्य होते थे, जिनके पाण्डित्य की धाक संसार पर है, परन्तु पहले ही कहा जा चुका है कि उन्होंने सिद्धान्त का बड़ा जबरदस्त खण्डन किया और साथ ही दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनकी यह विद्वत्ता सिद्धान्त पढ़ कर नहीं हुई, अपितु भाष्य के अध्ययन के अनन्तर वह भी एक वार नहीं अपितु १७ वार गुरुमुख से अध्ययन के उप-रान्त।

२ सिद्धान्त कौमुदी ने महाभाष्य के अध्ययन अध्यापन का ही अन्त कर दिया, सिद्धान्त कौमुदी के अध्येता भाष्य को समझने में सर्वथा असमर्थ होते हैं, सिद्धान्त कौमुदी की प्रक्रिया और भाष्य की प्रक्रिया में आकाश पाताल का अन्तर है। भाष्य-कार सूत्रों पर विचार करता है और सिद्धान्तकार उदाहरणों पर।

३ सिद्धान्त के अध्ययन से विचार शक्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है, सिद्धान्त कौमुदी का अध्येता जो कुछ उसमें या उसकी टीकाओं में लिखा है उस पर सोलह आने विश्वास करता है और रटता है, उसके पास अपना कुछ नहीं जो कुछ है भाष्य के अध्येतृ टीकाकारों का, उसकी अपनी ऊहा का नाश हो गया, जो कि भाष्य के शब्दों में व्याकरण का मुख्य प्रयोजन था।

"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्" ।

४ संस्कृत भाषा को मृत प्राय बनाने का मुख्य कारण सिद्धांत कौमुदी ही हुई, यद्यपि सिद्धांत कौमुदी का मुख्य प्रयोजन शब्द ही था, परन्तु ऊहा का नाशक होने से सिद्धांत कौमुदी पढ़ने वाले की उसके उदाहरणों से भिन्न उदाहरणों पर दृष्टि ही नहीं जाती, वह उनकी ही सिद्धि में सारी आयु बरबाद कर देता है, इसीलिये भाष्यकार ने शब्दोपदेश कैसे किया जाय इसका उत्तर देते हुए शब्दों के पाठ का खंडन किया और लिखा "एवंहि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्य वर्षं सहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तं जगाम" अर्थात् सुना जाता है कि देवगुरु बृहस्पति ने दिव्य हजार वर्ष तक शब्दों का पाठ इन्द्र को सुनाया पर वे समाप्त नहीं हुए। अतः—

"अनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः" अर्थात् शब्द ज्ञान के लिए पदों का पाठ सर्वथा अनुपयुक्त है।

परन्तु भट्टोजी ने इसकी परवाह न करके शब्द साहित्य में से कुछ शब्द निकाल कर उनको सिद्धि में अष्टाध्यायी के समस्त सूत्रों को खपा कर समझा कि बस शब्द साहित्य का पूरा ज्ञान हो गया, क्या भाष्यकार ऐसा शब्दसंग्रह नहीं कर सकते थे ? वह समझते थे कि इस प्रकार के शब्दसंग्रह से अनर्थ और महा अनर्थ होगा।

यही कारण है कि सिद्धांत के पीछे संस्कृत साहित्य की

इति श्री हो गयी—अष्टाध्यायी का पढ़ना समाप्त हुआ और पण्डित राज जैसे कवियों की भा समाप्ति हो गयी।

भाषा के लोक-भाषा न रहने पर भाषाज्ञान का मूल कारण व्या .रण होता है, व्याकरण के विकृत हो जाने पर भाषा का ज्ञान नहीं हो सकता।

५ सिद्धांत कौमुदी के अध्ययन से लौकिक भाषा में से स्वरों का सर्वथा लोप हो गया। होता क्यों नहीं जब कि महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त शर्मा दाधिमथ के शब्दों में स्वर तथा वैदिक प्रक्रिया में दीक्षित मूर्ख है। यही कारण है कि आजकल व्याकरण में साङ्गोपाङ्ग अध्ययन कर लेने पर भी बड़े से बड़े पण्डित वेद पर कुछ कहने या लिखने का साहस नहीं करते। इस लिये हमारा विश्वास है कि वेद के प्रचार में बाधा डालने का एक प्रमुख कारण इस का अध्ययन भो रहा है।

६ बड़ों का आदर करते हुए भा जूती मारने की प्रथा भी इसी ने प्रचारित की—यद्यपि अपने ग्रंथ में अनेक स्थलों पर भाष्य को ही सर्व मान्य ठहराया है, और यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं को अङ्गीकार किया है और आज तक समस्त वैयाकरण भी भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि को स्वतः प्रमाण मानते आये हैं, परन्तु न जाने—

यद्यपि उपदिश्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्या शास्त्रमुपदेश इति भाष्य वृत्यादिषु स्थितं तथापि तत्प्रौढिवाद-मात्रम्''

अर्थात् यद्यपि उपदेश शब्द करण अर्थ में घञ् प्रत्ययान्त मानते हुए 'शास्त्र' अर्थवाला महाभाष्यकार तथा वृत्तिकार मानते हैं पर वह तो केवल बड़ों की बड़ है"—

ऐसा कहने वाले भट्टोजी को पण्डित मंडलो ने क्यों कर स्वीकारकर लिया। भाष्य विरोध तो ऐसा दोष है जो कभी सहन ही नहीं किया जा सकता। अक्षम्य अपराध है।

इसी प्रकार छात्रों के स्वभाव में अश्लील-प्रियता अवैदिक बातों पर विश्वास आदि अनेक घातक हानियां पहुंचाई हैं।

सिद्धान्त कौमुदी में दोष

श्रीमद्दयानन्द वेद विद्यालय की स्थापना तथा परीक्षण से पूर्व हमारा अष्टाध्यायी पर विश्वास था उसी का हमने स्वनाम धन्य प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय श्री १०८ स्वामी शुद्ध बोध तीर्थ जी महाराज से अध्ययन किया गुरु जी उन दिनों सिद्धांत कौमुदी नहीं पढ़ाते थे, उन्हें उससे घृणा थी—हम इसका कारण न समझ सके, केवल गुरु सम्प्रदाय और पक्षपात ही समझते थे। गुरु जी भगवान् दयानन्द के गुरु भाई श्री महाराज उदयप्रकाश जी के शिष्य थे, इस लिये यह धारणा और भी दृढ़ हो गयी—भगवान् दयानन्द ने भी अपने ग्रंथों में सिद्धांत कोमुदी का प्रबल विरोध किया है, इसका भी कोई विशेष कारण समझ में नहीं आता था। परन्तु इस शिक्षण के परीक्षण से और आंखें

खोल कर व्याकरण ग्रंथों के अध्ययन से जिस परिणाम पर पहुंचे हैं उसी को संस्कृत प्रेमियों के समक्ष रख रहे हैं।

संस्कृत प्रेमियों को यह जान कर आश्चर्य होगा कि भगवान् दयानन्द ने सिद्धांत कौमुदी का खंडन बहुत ही मीठे शब्दों में किया है, उन्होंने तो केवल एक मौलिक तत्व लिखा है कि इन क्षुद्राशय अनार्ष लोगों के ग्रंथों का पढ़ना पहाड़ को खोदना और कौड़ी को प्राप्त करना है। गुरु—द्रोही को क्षुद्रबुद्धि या क्षुद्राशय कहना यथार्थ स्तुति है। परन्तु कविराज जगन्नाथ के शब्द तो कुछ और ही कहते हैं-वह लिखते हैं—

गुरु द्वेष दूषित मतीनां पुरुषायुषेणापि न शक्यन्ते गणयितुं प्रमादाः"

अर्थात् गुरु-द्रोही (दीक्षित) के प्रमाद पुरुष अपनी समस्त आयु में भी गिन नहीं सकता। कविराज प्रमादों के निकालने (प्रकट करने) की बात नहीं कह रहे, वह तो कहते हैं प्रमाद इतने अधिक हैं कि उनकी केवल गणना भी समग्र आयु में नहीं की जा सकती। साथ ही कविराज ने गुरु द्रोह को इतना भारी पातक समझा है कि ऐसे पातकी का नाम लेने से भी अपने को बचा लिया है।

इसी प्रकार मनोरमा कुचमर्दन के आरम्भ में भी नामोल्लेख से सर्प लेखा की भाँति भयभीत हो गये हैं और "स्वयं निर्मितायां मनोरमायां" लिखकर ही दीक्षित का परिचय कराया है।

पण्डित राज की असंख्य दोषों की बात कोई काव्य कल्पना नहीं है, अपितु प्रामाणिक और वास्तविक धारणा है यह बात अग्रिम लेख से स्पष्ट हो जायगी। यह ठीक है कि मनुष्य से प्रमाद होना स्वाभाविक है, उस ओर विज्ञों को ध्यान नहीं देना चाहिये। परन्तु यह बात एक आध दोष होने पर कही जा सकती है। गन्द के पलन्दे के विषय में नहीं।

इतना होते हुए भी हम यह मानते हैं कि सम्भव था कि प्रमाद-स्थलों को निकाल शुद्ध कर लिया जाता परन्तु उसका क्रम इतना दूषित और रचना इतनी अनुचित है कि उसको अङ्गीकार ही नहीं किया जा सकता इस क्रम से अध्ययन करने पर—

१. विद्यार्थी में सूत्राथ करने की क्षमता नहीं रहती उस के लिये सूत्र व्यर्थ हैं जो कुछ है वृत्ति है, जो ८० प्रतिशत अपूर्ण है।

२. विद्यार्थी को उदाहरण भी रटने पड़ते हैं,विद्यार्थी को उदाहरण खोजने की क्षमता होनी चाहिये रटने का नहीं।

३. क्रम को ध्यान में रखकर बनाये गये सूत्र कभी भी पूर्णतया समझ में नहीं आ सकते, यदि उनका क्रम बदल दिया जाये। आकडारादेका संज्ञा, पूर्वत्रासिद्धम्, असिद्धवदत्राभात् आदि, विशेष विस्तार के लिये पं० भीमसेन जी एम० ए० शास्त्री की सम्मति पढ़ें। पता चलेगा कि किस प्रकार बाल-मनोरमा कार भी इस क्रम के चक्कर से न निकल सका।

४. अष्टाध्यायी का क्रम छोड़ कर प्रकरण नियत करने से बहुत से स्थलों पर दोष आगये हैं। दण्डादण्डि को बहुव्रीहि संज्ञा ही स्वीकार की है अव्ययाभाव संज्ञा नहीं।

५. प्रत्ययः, कृत्याः, कृदतिङ् जैसे सैकड़ों अधिकार सूत्र सरल होते हुए भी समझ में नहीं आसकते।

६. सूत्र क्रम का ज्ञान न होने से विप्रतिषेधे परं कार्यम्— जैसी अनेकों परिभाषायें केवल मुखालङ्कृति मात्र रह जाती हैं। बुद्धि का विषय नहीं बनने पातीं।

७. क्रम ज्ञान न होने से अनुवृत्ति का ज्ञान नहीं होता, जब सूत्र और वृत्ति में विरोध जान पड़ता है, बलात् वृत्ति रटने से अन्ध विश्वास की जड़ जमती है, और ऊहा का नाश हो जाता है। विशेष के लिये श्री गणेश शङ्कर जी वेदतीर्थ की सम्मति देखें।

८. वेद के प्रधान लकार लेट् का बोध सर्वथा ही नहीं होता, वह छोड़ ही दिया गया है।

९. इसप्रकार अध्ययन से छात्र लौकिक उदाहरणों पर स्वर नहीं लगा सकता, वेद में प्रवेश तो दूर रहा।

१०. इस क्रम के अध्ययन के उपरान्त भाष्य का समझना असम्भव सा हो जाता है और पुनः झक मारकर वही क्रम अङ्गीकार करना पड़ता है।

क्रम दोष के अतिरिक्त प्रमादों को छोड़ते हुए अनेक दोष हैं। प्रमादों की संख्या तो बहुत है देखना हो तो मनोरमा कुचमर्दन और नागेश का अवलोकन करें।

१. अश्लीलता-यथा गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते तिष्ठते शपते आदि।

२. नवीन 'र' आदि प्रत्याहार वार्तिक परिभाषा आदि की कल्पना।

३. भाष्य विरुद्ध अनेक कारिकाओं की रचना यथा अनिट् कारिकायें।

४. उणादि के समस्त प्रकरण को यौगिक होते हुए भी रूढ़ि अर्थों का ही स्वीकार करना।

५. तथा अनेक भाष्य विरुद्ध भ्रममूलक विचारों का समर्थन—जैसे प्रत्याहार सूत्रों को माहेश्वराणि तथा उणादि के कर्ता शाकटायन हैं-आदि की कल्पना।

६. उञ ऊँ आदि योग विभाग वाले सूत्रों को दो मान कर भाष्य के परिश्रम को व्यर्थ करना।

७. कितने ही स्थलों पर वार्तिक को सूत्र मान लिया है जैसे कलेर्ढक्, अग्नेर्ढक् आदि।

८. धातुपाठ की अवतरणिका में धातुओं के स्वर बोधक पद को सर्वत्र अलग कर दिया है यथा-भू सत्तायाम् ही पढ़ा है— "उदात्त उदात्तेत् परस्मैभाषः" को पढ़ा ही नहीं इससे धातु स्वर लगाना, इट् अनिट् आदि का ज्ञान दुष्कर हो जाता है।

८. कितने ही अष्टाध्यायी के प्रकरण इस प्रकार अस्त व्यस्त हो गये हैं कि उन का ज्ञान बहुत ही कष्ट साध्य होगया है जैसे सेट् तथा अनिट् प्रत्यय का ज्ञान ।

१०. कितने ही सूत्र अपनी ओर से बढ़ा दिये हैं—सास्मिन् पौर्णमासी– में संज्ञायाम् ।

११. स्वल्प से ही काल में सिद्धान्त कौमुदी में इतने अधिक पाठ भेद कर दिये हैं कि पढ़ने वाले दो स्थान की छपी सिद्धान्त देखें तो चक्कर में पड़ जायें, श्रेणिकृत:—में [illegible] दीर्घ हैं कहीं ह्रस्व जान पड़ता है कि दीर्घ इकारथा—पण्डितों ने अशुद्ध समझ ह्रस्व छापना शुरू कर दिया । ऊँ इति-विति । विति रूप किन्हीं सिद्धान्त कौमुदियों में है ही नहीं । सो यह जान पड़ता है कि पंडितों ने अशुद्ध समझ निकाल दिया है ।

१२. सैकड़ों सूत्रों का अर्थ ही नहीं लिखा है, कहने को कह सकते हैं कि सरल होने से छोड़ दिया है परन्तु अनुवृत्ति ज्ञान न होंने से उन सूत्रों का कुछ स्थलों पर कार्य भले ही आजाये पर उनका विस्तृत भाव हृदयङ्गम नहीं हो सकता ।

१३. कितने ही सूत्रों की वृत्ति आधी है, जिस से बड़ा भारी भ्रम फैल सकता है, और दोष आते हैं ।

१४. कितनी ही वृत्तियां स्पष्ट नहीं हैं ।

१५. कितने ही सूत्र 'इति स्पष्टम्' लिख देने पर भी अस्पष्ट ही हैं ।

१६. बहुत से गण अधूरे हैं और बहुतों को आकृतिगण मान लिया है।

१७. एक बड़ा दोष यह है कि किसी सूत्र के उदाहरण अन्य सूत्रों पर दिये गये हैं जिससे भ्रम फैलता है।

१८. कितने ही सूत्रों के उदाहरण नहीं हैं, और प्रत्युदाहरण तो प्रायशः नहीं हैं जिनके अभाव से सूत्रार्थ स्पष्ट करने में अत्यन्त कठिनाई पड़ती है।

१६. कितने ही स्थलों पर स्वेच्छा से भाष्य विरुद्ध योग विभाग किये गये हैं, कहीं कहीं पर भाष्य के योग विभागों को विधि मान कर कार्य किये हैं और व्यर्थ पंक्तियां बढ़ाई गयी हैं यद्यपि कैय्यट ने स्पष्ट लिखा है—

योगविभागश्चेष्टप्रसिद्ध्यर्थ इति सर्वत्र समासो न भवति।

२०. कई स्थलों पर अधिकार सूत्र मानकर भी अनुवृति नहीं ली गयी है—अकर्तरिच कारके संज्ञायाम् को अग्रिम किसी भी सूत्र में अनुवृत्ति नहीं ली जिस से लगभग ६० सूत्रों के प्रत्ययार्थ का ज्ञान ही नहीं होता।

२१. अनेक शब्दों के भाष्य विरुद्ध अर्थ करना जैसे—
"छत्रादिभ्यो णः" पर छात्र का अर्थ सि० कौ० में गुरोः दोषाणामावरणं छत्रं तच्छीलमस्य स छात्रः। किया है, परन्तु भाष्य ने लिखा है "गुरुणा शिष्यश्छत्रवच्छाद्यः। शिष्येण गुरुश्छत्रवत्परिपाल्यः ॥"

छत्रवत् गुरु से शिष्य और शिष्य से गुरु रक्षित होने से छात्र शब्द का व्यवहार है न कि दोषों को ढकने से।

२. उणादयो बहुलं आदि अनेक स्थलों पर सूत्रांशों की व्याख्या ही नहीं की जिससे उणादि के ७४८ सूत्रों की व्याख्या ही अधूरी रह गयी ऐसे ही अन्य स्थलों आदि में भी।

२६. आचार्यों की विकल्पात्मक व्याख्या करके अनेक भ्रमात्मक रूप सिद्ध कर डाले हैं जैसे विष्णु इति।

२४. अनेक स्थलों के व्याख्या-भाग भाष्य विरुद्ध हैं जो सर्वथा उपेक्षणीय हैं।

२५. अनेक स्थलों पर गणादि में भाष्य सम्मत व्याख्या छोड़ दी है जिस के कारण प्रयोग सर्वथा उलटे बन जाते हैं।

२६. अनेक सूत्रों में भाष्य सम्मत व्याख्या छोड़ दी गयी है, जिस के कारण प्रयोग अन्यथा बन जाते हैं।

२७. प्रायः सब वार्तिकों तथा परिभाषाओं में पाठ परिवर्तन कर दिया है, जिसे अहम्मन्यता के अतिरक्त और क्या कह सकते हैं।

२८ अनेक वार्तिक छोड़ दिये गये हैं और अनेक अपनी ओर से लिखे गये हैं जिनका भाष्य में बीज भी नहीं।

२६ सूत्रों पर होने वाले आक्षेपों के भाष्य के समाधानों को छोड़ अनेक नये समाधानों की कल्पना की है, जिसमें विद्यार्थी की बुद्धि पर स्मरण करने का व्यर्थ परिश्रम पड़ता है,

हां यदि वह अपनी ऊहा से नवीन समाधान निकाल सके तो अच्छा है जैसे न्यासकारादि ने किया है।

इस प्रकार के अनेकों अपरिहार्य दोष हैं यद्यपि वास्तव में सि० कौ० के सब दोषों की गणना असम्भव ही है। ऊपर बताये क्रम दोष तथा अन्य दोषों युक्त सहस्रों सूत्र और उन दोषों के कारण से उन सूत्रों के कितने लाख या कितने करोड़ दूषित उदाहरण बनेंगे इस बात को विचारते हुये पण्डित राज जगन्नाथ की सम्मति शत प्रति शत शुद्ध जँचती है कि सिद्धांत कौमुदी के दोष पुरुष आयु (१००-२००-४०० वर्ष) में भी नहीं गिने जा सकते तो भी हमारा विचार था कि अधिक से अधिक दोषों को तथा उनसे युक्त सिद्धांत कौमुदी के स्थलों की सूचि जनता के समक्ष उपस्थित की जाये परन्तु समयाभाव से इस समय यह इच्छा संवरण करनी पड़ी है। जनता की इच्छा हुई तो पुनः किसी अवसर पर विस्तार पूर्वक सिद्धांत कौमुदी के प्रमाद दर्शाते हुए विस्तृत ग्रंथ उपस्थित किया जायगा इस समय तो केवल कुछ थोड़े से विद्यार्थियों द्वारा संगृहीत दोषों की सूचि तथा बड़े २ विद्वानों की सम्मति ही उपस्थित करते हैं—साथ ही अष्टाध्यायी के पठन पाठन की शैली पर अपने अनुभव भी उपस्थित करते हैं, जिससे हमसे सहमत महानुभाव उनसे लाभ उठा सकें।

अष्टाध्यायी का अध्ययन-अध्यापन

अष्टाध्यायी के क्रमशः अध्ययन-अध्यापन को बन्द हुए

केवल २०० ही वर्ष हुए होंगे, पर पण्डित मंडली अष्टाध्यायी को इस प्रकार भूल गयी है जिस प्रकार हिन्दू अपने शासन को। अष्टाध्यायी के अध्ययन के विषय में हमने भारत के बड़े २ पण्डितों से पत्र व्यवहार किया, जिनमें से कितनों ने तो लिख दिया कि 'अष्टाध्यायी पाठ से सूत्र क्रम का तो ज्ञान हो जायगा पर सूत्रों के अर्थ और बाध्य बाधक भाव आदि का ज्ञान न हो सकेगा'।

इस उत्तर को पढ़ कर हमें आश्चर्य हुआ कि ओ हो! बहुत से सिद्धांत कौमुदी के अध्यापक यह समझते हैं कि अष्टाध्यायी का पढ़ना केवल सूत्र पाठ का पढ़ाना है। वास्तव में इस धारणा में उनका दोष नहीं, यह उनके कौमुदी अध्ययन का दोष है, वह तो शिशु के समान उँगली पकड़ कर चलना सीखे हैं, स्व-शक्ति होते हुए भी चलने का अभ्यास नहीं, उन्होंने तो जो कुछ सिद्धांत कौमुदी या उसकी टीकाओं में पढ़ा है, रटा है। वह बेचारे क्या जानें कि संसार में ऊहा भी कोई पदार्थ है, उसकी अभिवृद्धि ही इष्ट है, और वह केवल अष्टाध्यायी जैसे ग्रंथ से ही हो सकती है। प्रिय पाठक वृन्द! अष्टाध्यायी का पढ़ना केवल सूत्रों का पाठ मात्र नहीं है। अष्टाध्यायी की प्रक्रिया को समझने के लिये यह समझना आवश्यक है कि जिस समय पाणिनीय व्याकरण बना उस समय क्या स्थिति थी। यह तो निर्विवाद ही है कि उस समय संस्कृत लोक भाषा थी, और मैक्समूलर के शब्दों में किसी भाषा के सर्वाङ्ग पूर्ण व्याकरण

की रचना उस समय होती है जब कोई भाषा अपनी चरमसीमा पर पहुंच जाती है।" इससे यह निष्कर्ष निकालने में कोई बाधा नहीं जान पड़ती कि उस समय विद्यार्थियों को अष्टाध्यायी के सूत्रों के समझने की क्षमता थी· जिस प्रकार आज कल हिन्दी भाषा के व्याकरण के नियमों को समझने की भारतीयों को कोई कठिनाई नहीं पड़ती। और नहीं उनको नियम या उनके उदाहरण रटने पड़ते हैं इसी प्रकार हमें भी अष्टाध्यायी अध्ययन से पूर्व छात्र में साहित्य की इतनी सामर्थ्य उत्पन्न कर देनी चाहिये कि वह सूत्रों की भाषा को समझ सके और संस्कृत साहित्य में से उदाहरण ढूंढ कर निकाल सके। विचारने का स्थल है सूत्र स्वतः एक २ नियम हैं फिर उनकी वृत्ति रटने रटाने की आवश्यकता क्या। वृत्ति रटने पर तो ४००० सूत्र ही व्यर्थ हो जाते हैं। हां सानुवृत्ति सूत्र अवश्य ध्यान में होना चाहिये यदि विद्यार्थियों की समझ में विषय बैठा दिया गया है तो उसकी व्याख्या चाहे जिस भाषा में कर सकेंगे। वह संस्कृत में भी हो सकती है और हिन्दी में भी। हां यह बात सत्य है कि संस्कृत में अभ्यास होने पर सूत्र-भाव अभिव्यक्त करने सरल होंगे। क्योंकि व्याकरण परिभाषायें तथा व्याख्यायें संस्कृत में ही हैं।

व्याकरण से साहित्य ज्ञान की तथा शब्द रचना की अभिवृद्धि की जा सकती है, मूल भाषा का शिक्षण व्याकरण का प्रयोजन नहीं हो सकता। व्याकरण भाषा को परिमार्जित कर सकता है उसका आरम्भिक ज्ञान नहीं करा सकता। इस

स्वाभाविक नियम के अनुसार हमें आरम्भ में छात्रों को साहित्य कराना चाहिये, जिससे उन्हें पर्याप्त पद-ज्ञान हो जाये। और एवं हमने अपने 'श्री दयानन्द वेद विद्यालय के परीक्षण में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। यद्यपि स्थानीय आर्यसमाजों के प्रचार कार्य तथा पेट के धन्धे के कारण हमें अभीष्ट अवकाश न मिल सका जिसके कारण हम विद्यालय में अहर्निश वास करके अपने परीक्षण का शत प्रतिशत फल न जान सके। परन्तु फिर भी यह परिणाम तो सुस्पष्ट है कि किसी भी भाषा का ज्ञान रखने वाला छात्र चार मास में, केवल चार मास में संस्कृत भाषा का परिचय भली भांति प्राप्त कर लेता है, चार मास में वह संस्कृत बोल लेता है लिख लेता है, और पञ्चतन्त्र से ग्रन्थ को समझ लेता है। यदि छात्र बिलकुल कोरा है और किसी भी भाषा आदि का ज्ञान नहीं है तो वह इस योग्यता को अधिक से अधिक आठ मास में प्राप्त कर लेता है। इस के अनन्तर अष्टाध्यायी बड़े आराम के साथ और सुगमता के साथ चलती है।

लघुकौमुदी

अष्टाध्यायी के प्रवेश के लिये लघुकौमुदी आदि किसी भी ग्रन्थ की आवश्यकता पड़ती है, हमारे अनुभव के विरुद्ध है। लघुकौमुदी आदि में दो तीन वर्ष खोना व्यर्थ है, न ऐसे किसी नवीन ग्रन्थ की ही आवश्यकता जान पड़ती है जो व्याकरण ग्रन्थ हो और अष्टाध्यायी में प्रवेश करा सके। हां साहित्य के सरलता

से शीघ्र सुबोध कराने वाले ग्रन्थ की अवश्य आवश्यकता है। अवकाश मिलने पर जनता के समक्ष अनुभव से उपलब्ध शैली के अनुसार एक ग्रन्थ उपस्थित करने की इच्छा है जो उपरि निर्दिष्ट समय में भली भांति संस्कृत का ज्ञान करा सके इस अनुभव से हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि जो भाई संस्कृत को कठिन बताते हैं वह भूल करते हैं। संस्कृत सी सरल और मधुरिमा से युक्त दूसरी भाषा नहीं। अष्टाध्यायी आरम्भ कराने से पूर्व संस्कृत साहित्य का ज्ञान कराना आवश्यक है, इस विषय में महामहोपाध्याय श्री पं० लक्ष्मीधर जो शास्त्री एम० ए० की सम्मति समादरणीय है। और साथ ही पठन पाठन व्यवस्था में वर्णोच्चारण शिक्षा के पश्चात् संस्कृत-वाक्य प्रबोध की रचना इस विषय में भगवान् दयानन्द की सहमति की घोषणा ऊंचे स्वर में कर रही है।

अस्तु। इस साहित्य ज्ञान के उपरान्त अष्टाध्यायी के पढ़ाने में जिन बातों का ध्यान रखना चाहिये वह निम्न हैं—

१. यदि बालक छोटी आयु का है तो सूत्र पहले ही कण्ठस्थ करा देने चाहिये। यदि समझदार बड़ी आयु का है तो सूत्रों के अध्ययन के साथ ही साथ कण्ठस्थ करते जाना चाहिये।

२. सर्व प्रथम सूत्रार्थ करने के नियम तत्स्थल पर समझाते जाना चाहिये।

३. अध्यापक इस बात में अत्यन्त सावधान रहें कि सूत्रार्थ स्वयं नही बताना है अपितु छात्र से ही निकलवाना है। छात्र

जहां तक कर सकता है अर्थ करे जहां गाड़ी रुकती दिखाई दे वहां सकेत से किसी उस जैसी ही बात को बता कर छात्र को स्वयं ही रास्ते पर आने दे।

इस में समय अधिक लग जाता है सही, पर छात्र की क्षमता आशातीत बढ़ जाती है हां छात्र और गुरु दोनों के धैर्य की परीक्षा हो जाती है।

४. पहले सूत्र में तो अर्थ कराना होगा परन्तु जहां दूसरा सूत्र आरम्भ हुआ वहां पहले सानुवृति सूत्र का ज्ञान कराना होगा। हम लोगों में से उदात्त अनुदात्त आदि के उच्चारण का ज्ञान उठ गया है, इसलिये अनुवृत्ति का ज्ञान करना पड़ता है नहीं तो स्वरित उच्चारण होते ही छात्र समझ सकते हैं कि यह पद आगे जायगा।

नोट—इस समय आवश्यकता है कि अनुवृत्ति स्थल को बताने के लिये उन पर स्वरित का चिन्ह छपा दिया जाये, मुलतान गुरुकुल से छपी हुई एक अष्टाध्यायी में ऐसा प्रयास किया गया है परन्तु जान पड़ता है शीघ्रता में छपने के कारण उसमें पर्याप्त अशुद्धियां रह गयी हैं— उसी का संशोधन करके पुनः छपाया जा सकता है। या मध्य कालीन परिपाटी के अनुसार अनुवृत्ति वाले पद लाल रंग में छपा देने चाहियें, इसमें धन अधिक व्यय होगा, पहला अस्पष्ट रहेगा अतः अच्छा यह है कि अनुवृत्ति वाले पद मोटे या टेढ़े छाप दिये जायें, यह उपाय सरल और स्पष्टतर भी है, पर इस प्रकार का ग्रंथ बहुत शुद्ध

छपना चाहिये। यदि जनता ने सहयोग दिया तो हम अपने 'आर्य प्रिंटिंग' प्रेस में छापने की बात भी सोच सकेंगे।) अनुवृत्ति सहित सूत्र के ज्ञान के उपरान्त सूत्रार्थ करने में कोई कठिनाई न होगी।

५. सूत्रार्थ के पीछे छात्र से उदाहरण की खोज कराना चाहिये यदि न आवे तो स्वयं बताकर वैसे ही अन्य उदाहरण पूछने चाहिये। जिस सूत्र के उदाहरण छात्र ने साहित्य में पढ़े ही न हों उन उदाहरणों को बताकर उनमें से एक आध याद करा देना चाहिये। शेष को विद्यार्थी स्वयं यथावसर स्मरण कर लेगा।

नोटः—सूत्रों के उदाहरण व्यवहार में लाते रहना चाहिये, जिस से साहित्य और व्याकरण दोनों तय्यार हो जायेंगे।

६. छात्र से पुनः २ पूछकर यह प्रवृत्ति उत्पन्न कर देनी चाहिये कि वह सूत्रार्थ को उदाहरण में बिना घटाये आगे न चलें।

७. यह भी ध्यान रखना चाहिये कि तत् तत् सूत्रोपयोगी कच्ची स्थिति रख कर उस सूत्र का समझना ही अभीष्ट है, यही पर्याप्त है—समस्त सिद्धि नहीं वह तो द्वितीय। वृत्ति में सम्पूर्ण-तया और पहली आवृत्ति में ज्यों २ आगे बढ़ेगा जितने २ सूत्र पूर्वोपन्यस्त उदाहरण सम्बन्धी पढ़ता जायगा स्वयं घटा लेगा। यह

प्रवृत्ति अध्यापक को बनाये रखनी चाहिये कि जहां तक हो सके अग्रिम सूत्रों में पूर्व प्रदत्त ही उदाहरण आते जावें ।

८. सूत्रार्थ करते समय छात्र अभीष्ट अर्थ करने की अपेक्षा उलटे अर्थ भी कर जाते हैं, उस समय अध्यापक को क्रोध कर छात्र की ऊहा को नष्ट नहीं करना चाहिये अपितु शान्ति के साथ बताना चाहिये कि छात्र कृत अर्थ 'क्यों नहीं करना चाहिये, वैसा अर्थ करने में किस २ नियम की अवहेलना करनी पड़ती है और क्या क्या आपत्ति आती है ।

९. छात्र को अधिक से अधिक शङ्कायें करने का अवसर देना चाहिये उत्तर न आने पर अपने मान की रक्षा के लिये विद्यार्थी को फटकारना हानिकारक है, उसका उत्तर सोच कर व अन्य टीका ग्रन्थ अवलोकन करके देना चाहिये, चाहे वह उत्तर कुछ काल पीछे ही दिया जाये । इससे दोनों की गुरु शिष्य की योग्यता बढ़ती है । ध्यान रहे बहुत से प्रश्न ऐसे उठते हैं जो टीका ग्रन्थों में भी नहीं मिलते और यह है भी स्वाभाविक कोई कहां तक लिखेगा, और प्रत्येक बुद्धि भी भिन्न है । उस जैसी और शङ्काओं को देखकर यथोचितउत्तर देना चाहिये ।

१० प्रथमावृत्ति में ही जो परिभाषा जिस २ सूत्र पर निकली है— निकलवाते जाना चाहिये । इसी प्रकार योग विभाग आदि सबका ज्ञान कराना चाहिये । इस प्रकार करा देने से द्वितीया आवृत्ति तथा भाष्य अध्ययन अत्यन्त सुगम हो जायगा

११ नित्य प्रति स्मृत सूत्रों का पाठ मौखिक ही करना चाहिये। पर इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि अधीत (पढ़े हुए) सूत्रों का पाठ बिना अर्थ ध्यान में लाये नहीं करना चाहिये। पूर्व प्रतिपादित संस्कृत अभ्यास के पीछे यह बात बहुत सरल हो जाती है केवल मनोयोग देने की बात है। यह बात शब्दादि के रूप याद करते या बोलते समय ध्यान रखनी चाहिये कि बिना अर्थ के बिचारे मुख से संस्कृत शब्द न निकाला जाये।

१२ इस प्रकार वृत्ति सहित प्रथमावृत्ति हो जाने पर द्वितीया वृत्ति में सिद्धि पर बल दिया जाय, सिद्धांत कौमुदी के उपजीव्य प्रक्रिया कौमुदी आदि ग्रन्थ तथा वेदाङ्ग-प्रकाश द्वितीयावृत्ति के उपयोगी हैं। इस आवृत्ति में बाध्य बाधक भाव पूर्व-पर-अन्तरङ्ग आदि का ज्ञान शङ्का समाधान सहित जितना बने कराना चाहिये। साथ ही उदाहरणों में स्वरादि की भी आयोजना करानी चाहिये।

१३ तीसरी आवृत्ति में महा भाष्य पूर्वनिर्दिष्ट प्रकारानुसार पढ़ाने से आधा भाष्य तो समाप्त हो ही जायगा शेष सूत्र निर्माण आदि प्रयोजन ज्ञापन रूप समालोचनात्मक दृष्टि से महाभाष्य अध्ययन से समग्र व्याकरण में अव्याहत गति हो जायगी—

१४ इन सब बातों से आवश्यक बात यह ध्यान रखनी चाहिए कि अध्यापक की धारणा यह होनी चाहिये कि जो कुछ मुझे आता है शीघ्राति शीघ्र इस बालक की बुद्धि में डाल

दूं और विद्यार्थी को शीघ्रातिशीघ्र विषय ग्रहण करने का प्रयास करना चाहिये। और साथ ही यह भी ध्यान रखनी चाहिये कि अष्टाध्यायी के पढ़ने वाले छात्र, अष्टाध्यायी को सरल समझ-कर उसमें परिश्रम करना छोड़ देते हैं और चाहते हैं कि अहर्निश ३० वर्ष तक लगातार घोर परिश्रम करने वाले सिद्धांत कौमुदी के प्रकाण्ड पण्डितों से लोहा ले लिया जाये। यह एक सर्वथा निर्मूल तथा भ्रम पूर्ण धारणा है। यह तो हो सकता है कि तीस वर्ष के परिश्रम का मुकाबला ३ वर्ष का परिश्रम कर सके परन्तु यह नहीं हो सकता कि आकाश (शून्य) भूमिका हीन बालू की भी दीवार गिरा सके। इस लिए अष्टाध्यायी के छात्रों को ३-४ वर्ष तक तो अन्य विषयों को छोड़ कर घोर परिश्रम करना चाहिये। इसी बात को ऋषि ने इन शब्दों में प्रकट किया है:—

"अर्थात् जो बुद्धिमान, पुरुषार्थी, निष्कपटी विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पढ़ें पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़ के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध कर पुन: अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़ पढ़ा सकते हैं। **किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में करना पड़ता है** वैसा अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता।

सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास।

इस प्रकार यदि धारणा होगी तो मार्ग स्वयं मिल जायगा।

यह कुछ अनुभव पढ़ने पढ़ाने वाले महानुभावों के लाभ अर्थ लिखे हैं यदि इन पर चला जाय तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि अष्टाध्यायी बहुत शीघ्र सफल हो जाये। यह कठिनाई अवश्य है कि हमें आज कल इतना श्रमकर पढ़ाने वाले अध्यापक नहीं मिलते। परन्तु इससे हमें अष्टाध्यायी की दुरूहता नहीं समझ लेनीं चाहिये हमें उद्योग और परिश्रम से कार्य लेना चाहिये।

तीन आक्षेप

१. अष्टाध्यायी पर सम्मति देते समय बहुत से प्रसिद्ध व्यक्तियों ने यह भी लिखा है कि आज कल विद्यार्थियों में न ब्रह्मचर्य है न तप न त्याग वह अष्टाध्यायी कैसे पढ़ सकते हैं ?

मैं जानता हूँ, यह धारणा भी जनता में प्रसृत हो रही है। परन्तु यह नितान्त भ्रम पूर्ण विचार है यह तो ठीक है कि उपर्युक्त गुण विद्याध्ययन के लिये अत्यन्त लाभदायक हैं परन्तु यह नहीं कि इनकी कमी में अष्टाध्यायी पढ़ी ही नहीं जा सकता जब अष्टाध्यायी से बीसियों गुण। क्लिष्ट और बृहत्काय ग्रन्थ पढ़ा जा सकता है तो अष्टाध्यायी भी पढ़ी जा सकती है और सफलता के साथ पढ़ी जा सकता है।

२. कुछ महानुभावों का आक्षेप है कि कोई ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर प्रमाणिक रूप से बना कर फिर अष्टाध्यायी के पढ़ने का प्रश्न उठाना गाहिये।

इस का उत्तर पूर्व आ चुका है बना बनाया ग्रन्थ विद्यार्थियों की ऊहा शक्ति को नष्ट कर देता है उन की विचार शक्ति समाप्त हो जाती है। इस लिये मूल अष्टाध्यायो धातुपाठ आदि दश पाठी के सहारे ही पढ़ाना पूर्ण फल देने वाला हो सकता है, यदि योग्यता का प्रश्न है तो अध्यापक को चाहिये कि पढ़ाने से पूर्व कुछ समय लगा कर अपने घिषय को तय्यार करके पढ़ायें नोट लेकर या कोई ग्रन्थ लेकर। इस कार्य के लिये काशिका न्यास पदमञ्जरी आदि पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। अपनी बुद्धि से काम लेना तथा परिश्रम करना पण्डिनों का काम है।

हमारा यह तो विचार है कि संस्कृत व्याकरण की दुरूहता और क्लिष्टता के भाव को मिटाने के लिये एक ऐसे ग्रन्थ की रचना की जाय जिस के एक बार सावधानी से अध्ययन कर लेने पर व्याकरण में प्रवेश हो जाये और अध्येता ग्रन्थ की सहायता से जिस शब्द को चाहे सिद्ध करके वैयाकरणों से बात करले। परन्तु ऐसे ग्रन्थ की बात हमारी समझ में नहीं आती जो वैयाकरण बनने वाले छात्रों के लिये निर्धारित कर दिया जाये, इससे उनकी ऊहा विवेचना तथा विचार शक्ति नष्ट हो जाती है।

३ किन्हीं महानुभावों ने यह भी सम्मति दी कि अष्टाध्यायी और सिद्धांत कौमुदी के विवाद में न पड़ कर कुछ विद्यार्थियों

को लेकर बैठ जाओ और कुछ करके दिखाओ। बड़ी निर्भीक और तथ्य सम्मति है। मैं इसका हृदय से आदर करता हूं, यही कारण है कि आज परीक्षण के पीछे ही इन भावों को प्रकट कर रहा हूं। यह मेरे सिद्धांतात्मक विचार नहीं अपि तु क्रियात्मक अनुभव के परिणाम हैं। पूरे साधन न होते हुए भी निराश आर्य जनता की उपेक्षा वृत्ति से दी हुई सहायता और हिन्दू जनता की उदारवृत्ति से परीक्षण करने में समर्थ हो जिस परिणाम पर पहुंचा वह ही उपस्थित किया है। और इस प्रकार के पढ़ाने के परिणाम को देखना हो तो हमारे विद्यार्थियों को देखें। कि उन्होंने स्वल्प से ही काल (केवल दो वर्ष से भी कम समय) में व्याकरण की जो योग्यता प्राप्त कर ली है वह किसी के लिये भी स्पृहणीय हो सकती है। उन्होंने साधनों के अभाव में दो वर्ष से भी कम अध्ययन किया है किसी भी संस्था का चार वर्ष का छात्र बात कर ले- सब विषय स्पष्ट हो जायगा, साधनों की पुष्कलता में तो हम इस से भी कहीं बढ़ कर आशा कर सकते हैं।

आगे के पृष्ठों में दी हुई सिद्धांत कौमुदी की अशुद्धियों तथा प्रमादों की सूचि विद्यार्थियों ने ही तैयार की है। अष्टाध्यायी का अध्ययन कर सिद्धांत कौमुदी की समालोचना कर सकते हैं, परन्तु हमें स्वल्प काल का सिद्धांत-कौमुदी पढ़ा हुआ छात्र ऐसा नहीं दीखता जो अष्टाध्यायी पर भी विचार कर सके।

ऋषि पाठ्य प्रणाली

यहां पर इस लेख में केवल सिद्धान्त कौमुदी पर ही कुछ विचार किया जा सका है। परन्तु आशा है संस्कृत प्रेमी जन इससे अनुमान लगा लेंगे कि अनार्ष ग्रन्थों में किस प्रकार गड़-बड़ हो जाती है और किस प्रकार ऐसे जाल ग्रन्थों से आयु का उत्तम भाग नष्ट हो जाता है। परन्तु कुछ संस्थाओं के इस में असफलता होने पर उन्होंने यह कहना आरम्भ कर दिया है कि पाठ विधि दूषित हैं, परन्तु वास्तविक कारण यह है कि संस्थाओं के संस्थापक तो पाठ विधि को सफल बनाना चाहते थे परन्तु पण्डित मण्डली पौराणिक मिली और उसने परिश्रम करके नहीं दिया न हीं उनकी ऋषि पाठ विधि पर श्रद्धा थी जनता ने ऋषि की पाठ विधि के महत्व को समझा नहीं, न उसके भक्तों को पहिचाना वह नाम के डिगरियों के धोखे में पढ़ गयी, और उनके असफल होने पर पाठ विधि को ही अपूर्ण मान बैठी।

जनता से ह ारा यही निबेदन है कि दृढ़ता से काम ले और पाठ षिधि को सफल वनावे, पाठ विधि सर्वांश में ठीक है, दोष हम पढ़ाने वालों का है। अध्यापन शैली का है, नवीन सिद्धान्तों को लेते हुए तुलनात्मक दृष्टि से यदि ऋषि की पाठ विधि पर आचरण किया जावे तो आशातीत सफलता होगी। और प्रत्येक विषय के प्रकाण्ड पण्डित पैदा होंगे।

वेदाङ्ग प्रकाश

सिद्धान्त कौमुदी पर किये हमारे आक्षेपों को पढ़कर सम्भव है बहुत से महानुभावों के हृदय में वेदाङ्ग प्रकाश के विषय में भी वैसी ही भावनायें उठने लगें, परन्तु उनको ध्यान रखना चाहिये कि वेदाङ्ग प्रकाश में सिद्धान्त कौमुदी के दर्शाये हुये दोषों में से एक भी दोष नहीं है। उसमें एक भी स्थल भाष्य विरुद्ध या वार्त्तिक परिभाषाओं में पाठ भेद, सामिवृत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरणाभावादि दोषों का नितान्ताभाव है। हां, केवल क्रम भेद का दोष कहा जा सकता है परन्तु वह भी वृत्तियों के सम्पूर्ण होने से बहुत हल्का होगया है और वह दोष भी उसी दशा में गिना जा सकता है जबकि वेदाङ्ग प्रकाश को भी सिद्धांत कौमुदी की भांति आरम्भ से ही पढ़ाना आरम्भ किया जाय। यही कारण था कि वेदाङ्गप्रकाश के कई भाग संस्कार विधि तथा सत्यार्थप्रकाश से पूर्व रचे हुये होने पर भी ऋषि ने उन्हें पाठ-विधि में स्थान नहीं दिया।

वास्तव में वेदाङ्गप्रकाश तत्कालीन सामयिक आवश्यकता की पूर्ति के लिये रचा गया था जैसे कि ऋषि के पत्र व्यवहार से स्पष्ट है। हां, यह ठीक है कि वेदाङ्ग प्रकाश अब भी जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं द्वितीयावृत्ति में उपयोगी सिद्ध होगा।

रोटी का प्रश्न

शिक्षा का उद्देश्य रोटी नहीं है। अतः शिक्षा के साथ रोटी का प्रश्न मिलाना भूल है। रोटी न ऐसों को मिलती है न आचार्यों को, रोटी व्यवसाय शिल्प और परिश्रम कर किसी भी प्रकार कमाई जा सकती है। रोटी की आड़ में हम दूसरों की बोटी नोचना चाहते हैं, हमारी लिप्सा बहुत विशाल होगयी है। इससे विमुख हो, हमारा ध्यान त्यागी तपस्वी सदाचारी ब्राह्मण उत्पन्न करने की ओर होना चाहिये वे ही देश की सच्ची सम्पत्ति होंगे। उसीसे संसार में वैदिक धर्म का प्रचार होगा। रोटी कमाने के कारखानों से शायद रोटी मिल जाये पर आत्मा-भारत की सच्ची आत्मा नहीं मिल सकती- इसीलिये इतनी संस्थायें होते हुये भी समाज के सच्चे सेवक नहीं निकलते। इस ओर से आंखें बन्द करना समाज की मृत्यु है।

सूचना

ब्रह्मचारी दो वर्ष से पूर्व संस्कृत के एक शब्द को भी नहीं जानते थे। उन्होंने अपने अल्प काल के, इस आर्षपद्धति अर्थात् अष्टाध्यायी द्वारा अध्ययन से व्याकरण शास्त्र का जो ज्ञान प्राप्त किया है, वह कैसा और कितना है, पाठक उसे आगे लिखी हुई ब्रह्मचारियों की सिद्धान्त कौमुदी के भाष्यविरोधादि दोष विषयक संग्रह सूचियों के अवलोकन से भली भांति जान सकेंगे। तथा 'एक पन्थ दो काज' की लोकोक्ति के अनुसार-यह भी साथ ही साथ समझ सकेंगे कि पण्डितराज जगन्नाथ का कथन सर्वथा सर्वांश में सत्य है। क्यों कि जब थोड़े से स्थल में ही अनेकों दोष व्याकरण के बालक भी बता सकते हैं तो संपूर्ण में कितने दोष हैं इसका क्या ठिकाना। हमें विश्वास है कि ऐसे २ इतने दोषों की विद्यमानता पर पाठक वृन्द कभी भी किसी भांति सिद्धान्त कौमुदी को अध्ययनाध्यापन के योग्य नहीं समझ सकते और न ही उसका पठन-पाठन पाठकों के लिये सह्य होगा।

भाष्य विरोध

(लेखक—आयुष्मान् श्री ब्रह्मचारी सुरेन्द्रनाथ शर्मा अलीगढ़ प्रांतीय)

सज्जनो ! सि० कौ० में इतनी भाष्यविरोधता है कि मैं एक अल्पज्ञ उन्हें क्या गिना सकता हूँ । फिर भी पाठकों के ज्ञानार्थ कुछ उदाहरण रखता हूँ ।

१- "अथ शब्दानुशासनम्" ।

इस पाणिनीय सूत्र को कौमुदी कार ने अपने ग्रन्थ में स्थान ही नहीं दिया, जो कि अत्यन्त अनुचित है । पाणिनीय होने में दो प्रबल प्रमाण पर्याप्त होंगे— मेधातिथि भृगुप्रोक्त मनुसंहिता के प्रथम श्लोक के व्याख्यान में लिखते हैं कि— "पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनमभिधानमाद्रियते । तथाहि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनं "अथ शब्दानुशासनम्" इति सूत्रसन्दर्भमारभते ।" एवं, सृष्टिधर पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति की टीका में— "व्याकरणशास्त्रमारभमाणो भगवान् पाणिनिर्मुनिः प्रयोजननामानि व्याचिख्यासुः प्रतिजानीते "अथ शब्दानुशासनम्" इति ।" लिखते हैं ।

२- "अइउण्.....हल्" ।

'इति माहेश्वराणि सूत्राणि (अर्थात् यह महेश्वर के सूत्र हैं)' सि० कौ० ।

किन्तु यह १४ सूत्र भी पाणिनि मुनि के ही हैं, जैसा कि 'हयवरट्' सूत्र के भाष्य से स्पष्ट है "एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति। अचोऽत्सु हलो हल्सु।" यहां पर 'उपदिशति' क्रिया के कर्त्ता 'आचार्य' से ग्रहण मुनि पाणिनि का ही होता है, जैसा भाष्य के अनेक स्थलों में स्पष्ट है। यहां नागेश जी ने लिखा है कि 'आचार्य' शब्द से यहाँ अनादि शब्द पुरुष का ग्रहण है। यह एक नवीन अद्भुत कल्पना है। भला कहीं अनादि शब्द पुरुष भी हुआ है। और अन्यत्र 'प्राक्कडारात्समासः हलन्त्यम्' इत्यादि में जहां 'एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते" इस प्रकार भाष्य में आता है वहां कहीं भी नागेश ने इस प्रकार "अनादि शब्द पुरुष' का व्याख्यान नहीं किया। यदि इन स्थलों पर भी पाणिनि का ग्रहण न करके 'अनादि शब्द पुरुष' का ग्रहण किया जावे तो क्या ये सूत्र भी पाणिनि के नहीं हैं? क्या अष्टाध्यायी भी 'अनादि शब्द पुरुष' की है। अतः महेश्वर आदि की नवीन कल्पना करना निर्मूल, भाष्य-विरुद्ध तथा अनर्थ कारी है। भला इतना भी इनकी बुद्धि में नहीं आया कि इतना सूत्र-समूह जिन मुनि पाणिनि ने बना कर शब्द सागर गागर में भर दिया, सो क्या वे इन चौदह सूत्रोंको नहीं बना सकते थे।

३. तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् । १ । २ । ३१ ।

"ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्" (सूत्र में ह्रस्व ग्रहण न करना चाहिये) सि० कौ० ।

सो यह कथन पाणिनि मुनि जी का निरादर करने वाला तथा महाभाष्य के विपरीत होने से उपेक्षणीय है क्योंकि महाभाष्य में आता है—

"अर्धह्रस्वमित्युच्यते । तत्र दीर्घप्लुतयोर्न प्राप्नोति । कन्या। शक्तिके ३। नैष दोषः । माऽचोऽत्र लोपोदृष्टव्यः। अर्धह्रस्व-मात्रमर्धह्रस्वमिति" इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार ह्रस्वग्रहण सार्थक मानते हैं।

४. अलोऽन्त्यस्य । १ । १ । ६२ ।

"षष्ठी निर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात् "सिद्धांत कौमुदी। यह अर्थ त्रुटि पूर्ण होने से हेय है क्योंकि षष्ठी निर्दिष्ट आदेश नहीं होता है। यदि दुर्जन तोष न्याय से यह मान भी लिया जावे तो "अस्तेर्भूः" यहाँ पर अस्तेः यह षष्ठी निर्दिष्ट होने से आदेश संज्ञक होना चाहिये।

५. "अकथितं च" । १ । ४ । ५१ ।

दुह्याच्पचदण्डरुधिप्रच्छिचिब्रूशासु जिमन्थमुषाम्" सि० कौ० ।

यह नवीन कारिका महाभाष्य के विरुद्ध होने से तथा त्रुटि पूर्ण होने से सर्वथा व्याकरणशास्त्र से बहिष्कार्य है

क्योंकि महाभाष्य में दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञामुपयोगनिमित्तमपूर्वविधौ । ब्रुवि शासि गुणेन च यत्सचते तदकीर्तितमाचरितं कविना ॥" यह कारिका है । तथा उसकी बालमनोरमा टीका को भी यह बात माननीय नहीं है । वहाँ लिखा है—

"वस्तुतस्तु भाष्ये तु याचि रुधि इत्याद्युदाहृत श्लोक द्वय परिगणिताः दुहियाचिरुधीत्यष्टावेव धातवो द्विकर्मकाः । न तु "पचि दण्डि" आदयो बहिर्भूता अपि" । (बालमनोरमा)

इसी प्रकार शब्दरत्न टीका में भी लिखा है— एवं च भाष्यानुक्तानां परिगणने पाठोऽयुक्तः । इसी प्रकार तत्व बोधिनी दुहचादिषु पचेः परिगणनमप्रामाणिकं भाष्य कैयटयोरनुक्तत्वात्" यहाँ पर यह एक ऐसा दोष है जिसका भाष्य वा कैयट तो दूर उसको टीकाओं ने भी खंडन किया है ।

६. वायौ । २ । ४ । ५७ ।

"अजेर्वी वा स्याद्यौ" (अर्थात् अज् धातु को यु प्रत्यय पर होने पर विकल्प से वी आदेश हो) (सि० कौ० ।)

यह अर्थ महाभाष्य कार तथा नागेशादि के विरुद्ध है महाभाष्य में लिखा है " न तर्हीदानीमिदं वक्तव्यं वायाविति । वक्तव्यं च । किं प्रयोजनं । नेयं विभाषा किं तर्ह्यादेशो विधीयते । वा इत्ययमादेशो भवत्यजेर्यौ परतः वायुरिति" । इससे स्पष्ट होता है कि मुनिवर पतंजलि के पुनीत हृदय में यह बात आगई

थी कि कहीं कोई दीक्षित जैसे शिष्य इस वा को विभाषा न समझ लें अतएव पहले से भाष्य में लिख दिया कि "नेयं विभाषा........" अर्थात् यह विभाषा नहीं है किन्तु आदेश है। तथा नागेश ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है—इदं सूत्रम् "अजेर्यौ परतो वा इत्यादेशो वायुः" इत्येवं भाष्येऽव्याख्यातम्"।
(लघुशब्देन्दु शेखर।)

७- वोतो गुणवचनात् । ४ । १ । ४४ ॥

"गुणवचनान्ङीबाद्युदात्तार्थः" इस वार्तिक के बिना ही सि० कौ० कार ने अर्थ में ङीप् ग्रहण कर लिया है ऊपर से ङीष् की अनुवृत्ति आते हुये बीच में से बिना किसी ङीष् आदि सूत्रस्थ पद होते हुये, वार्तिक को न पढ़कर ङीष् ग्रहण करना भाष्य विरोध तथा भाष्यानभिज्ञता को प्रकट करता है क्योंकि भाष्य में स्पष्ट रूप से उक्त वार्तिक लिखा है।

८- फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ । ४ । १ । १५० ।

इसमें यह संदेह होता है कि "गोत्रस्त्रियाः कुत्सनेण च" इस सूत्र से कुत्सने की अनुवृत्ति आती होगी क्योंकि उस से पहले दोनों सूत्रों में कुत्सने की अनुवृत्ति आती है तथा च उसकी निवृत्ति के लिये न तो कोई चकारादि ही पढ़ा है, नहीं दूसरा नया प्रकरण ही प्रारम्भ होता है अतएव इस विषय में बिना कुछ लिखे अनुवृत्ति निषेध का ज्ञान दुर्लभ होने से इस

विषय में कुछ न लिखना दीक्षित जी की भाष्यानभिज्ञता को प्रकट करता है क्योंकि भाष्य में लिखा है:—

"इमे चत्वारोयोगाः। एषः त्रयः कुत्सने। त्रयः सौवीरगोत्रे आद्यो योगः कुत्सने एव। अन्यः सौवीरगोत्र एव।

९- हलन्त्यम् ॥ १ । ३ । ३ ॥

भट्टोजिदीक्षित ने इस सूत्र की आवृत्ति की है(अर्थात् सूत्र को दो बार पढ़कर व्याख्यान किया है) सो महामुनि पाणिनि का निरादर करने से तथा ग्रन्थ गौरव दोष युक्त होने से और भगवान् पतंजलि जी के भी विरुद्ध होने से विषयुक्त दुग्ध के समान हेय है। क्योंकि मुनिबर पतंजलि भाष्य में लिखते हैं "सिद्धं तु लकार निर्देशात्। सिद्धमेतत्। कथं। लकारनिर्देशः कर्तव्यः। हलन्त्यमित्संज्ञंभवति। लकारश्चेति वक्तव्यम्। एक शेष निर्देशाद्वा। अथवैकशेषनिर्देशोऽयं। हल् च हल् च हल् हलन्त्यमित्संज्ञं भवति इति।" अर्थात् भाष्य मत में एक शेष निर्देश मानने से अन्योन्याश्रय दोष दूर हो जाता है। इसी भाष्य मत को अङ्गीकार करते हुये इन्हीं दीक्षित के वंशावतंस नागेश जी निज शेखर में लिखते हैं—"तस्माद् एक शेषनिर्देशाद्वा" इत्येव समाधानम्"। इससे सिद्ध है कि यह दीक्षित को मन गढ़न्त व्यर्थ कल्पना है।

१०- सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे ॥ १ । १ १६ ।

इस सूत्र के उदाहरण में 'विष्ण इति' यह एक नवीन रूप

बना डाला है जो अयुक्त है क्योंकि शाकल्याचार्य जी के मत में विष्णो इति तथा पाणिनिमत में विष्णविति ये दो रूप बनते हैं। अब दीक्षित जी "लोपः शाकल्यस्य" आश्रय से पाणिनि जी के मत में विष्णविति रूप का वकार लोप करते है सो भला इनकी बुद्धि में इतना भी नहीं आया कि मैं सूत्र लगाता हूँ शाकल्याचार्य के मत का और लोप कर रहा हूँ पाणिनि के मत में यह कैसे हो सकता है।

११- ऊँ ॥ १ । १ । १८ ॥ १०७ ॥

"उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्च ऊँ इत्यमादेशो वा स्यात्। ऊँ इति। विति। सि० कौ०।

यहां पर ऊँ सूत्र से विति यह रूप नहीं बन सकता क्योंकि जब आदेश विकल्प से होगा तो एक पक्ष में ऊँ इति तथा दूसरे पक्ष में उ इति ये दो रूप ही बनेंगे। तथा च यह भाष्य में आता है "ततः "ऊँ"। उञः ऊँ इत्यमादेशो भवति। शाकल्याचार्यस्यमतेन दीर्घो ऽनुनासिकः प्रगृह्यसंज्ञकश्च। ऊँ इति"

अतएव ऊँ सूत्र से विति यह रूप बनाना महाभाष्य के विरुद्ध है। दुर्जन तोषन्याय से मान भी लें तो सानुनासिक यण् होना चाहिये।

१२- उञ ऊँ १ । १ । १७ ।

सिद्धान्त कौमुदी में इस सूत्र के "उञ", "ऊँ"—ये दो सूत्र कर दिये हैं सो यह महाभाष्य के विरुद्ध

अयुक्त कल्पना होने से उपेक्षणीय है क्योंकि यदि ये पाणिनिमत में दो ही सूत्र होते तो भाष्य में योग-विभाग करना असम्भव तथा व्यर्थ था।

और यदि यह मान भी लिया जावे कि महाभाष्य के योग विभाग को देखकर दो सूत्र बना दिये हैं तो फिर जहां जहां सह सुपा" "इद्गोण्याः' इत्यादि स्थलों पर भाष्यकार ने योग विभाग किये हैं वहां २ सर्वत्र दो २ सूत्र लिखने चाहिये थे। अतः "उञ ऊँ" तथा 'विभाषा अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' आदि सूत्रों को पाणिनि तथा पतञ्जलि विरुद्ध दो २ लिखना यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्य वाला अपनी ही बात के विरुद्ध आचरण करना दीक्षित को 'वदतो व्याघातः' दोष के चक्र में भी डालता है।

१३- प्राप्तापन्ने च द्वितीयया ॥ २ । २ । ४ ॥

इस सूत्र में भट्टोजि दीक्षित ने 'द्वितीयया अ' इस प्रकार प्रश्लेष किया है जो भाष्य कथा कैयट नागेशादि के विरुद्ध तथा दूरान्वय होने से सर्वथा निन्दनीय है क्योंकि भाष्य में स्पष्ट लिखा है कि "एवं तर्हि नायमनुकर्षणार्थश्चकारः। किंतर्हि अत्वमनेन विधीयते प्राप्तापन्ने द्वितीयान्तेन समस्येते। अत्वं च भवति प्राप्तापन्नयोरिति। प्राप्ता जीविकां प्राप्तजीविका। अपन्ना जीवकां आपन्न जीविका"। इस पर कैयट लिखते हैं—चकारेण समुच्चयार्थेनाकारप्रश्लेषोऽनुमीयते सौत्रत्वाच्चनिर्देशस्यप्रकृति-

भावः प्रगृह्याश्रय न भवति। अर्थात् यहां पर चकार से (प्राप्ता-पन्नेऽच इस प्रकार) अकार प्रश्लेष होता है। एवं यहां पर नागेश लिखते हैं।

(ल० श० शे०) प्राप्तापन्ने इत्युत्तरमकारप्रश्लेषः अप्रगृह्यत्वं सौत्रत्वादिति भाष्यस्वरसः"। इससे स्पष्ट है नागेश आदि सभी "प्राप्तापन्नेऽच" इसी प्रकार का प्रश्लेष स्वीकार करते हैं तथा द्वितीयया अ इस प्रकार दूरान्वय भी हो जाता है अतएव दीक्षित की अपनी कल्पना सर्वथा अनुचित है।

१४- इच्कर्मव्यतिहारे ॥ ५ । ४ । १२७ ॥

"कर्मव्यतिहारे यो बहुव्रीहिस्तस्मादिच् स्यात्समासान्तः"।
सि० कौ०।

अर्थात् दण्डादण्डि इत्यादि का बहुव्रीहि समास ही मानकर इच् कहा है सो यहां अव्ययी भाव समास स्वीकार न करना आपत्ति उत्पादक है अर्थात् अव्ययी भाव के बिना अव्ययत्व न होने से लुगादि सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

१५- "अकथितं च"

जब "दुह्याच्पचदण्ड"—यह कारिका भाष्यविरुद्ध नवीन बनाई तो भिक्ष धातु का पाठ न होने से 'बलिं भिक्षते वसुधाम्" जब यह उदाहरण नहीं बनता देखा तो भट्टोजि दीक्षित

ने भाष्य विरुद्ध "अर्थ निबन्धनेयं संज्ञा". यह नवीन कल्पना की जिसका शेखर, शब्दरत्न प्रभा आदि टीका-कारों ने भाष्य विरुद्ध होने से तीव्र खंडन किया है।

(ल० श० रत्न) अर्थ निबन्धनेयं संज्ञा इति चायुक्तम्।

(प्रभा०) "अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा इति चायुक्तम्' अतएव 'आख्यतोपयोगे' ॥ १। ४। १४॥ इति सूत्रस्थे पूर्वोक्तपरिगणन-पर भाष्ये याचेः पृथक् भिक्षिग्रहणं सगच्छते।"

इसी प्रकारबाल मनोरमा कार।

(बा० मा०) अर्थ निबन्धनेयं संज्ञेत्यपि न युक्तं भाष्ये अदर्शनात् भाष्ये याचेर्ग्रहणेनैव सिद्धे भिक्षिग्रहणवैयर्थ्याच्च

१६- ऊकालोऽज्भ्रस्वदीर्घप्लुतः। १। २। २७॥

'वां काल इव कालो यस्य स ऊकालः'। सि० कौ०।

यह समास विग्रह ठीक नहीं क्योंकि व्यधिकरणों का समास नहीं होता है और यदि यह कहा जाय कि यह विग्रह वाक्य नहीं है तो यह किसी शब्द से ज्ञात नहीं होता है कि वह समास विग्रह नहीं है अतएव उभयतः पाशरज्जुः होने से अशुद्ध है।

१७ यूस्त्र्याख्यौ नदी। १। ४। ३॥

"प्रथमलिङ्गग्रहणं च" सि० कौ०।

यह वार्तिक मानना भाष्य विरुद्ध है क्योंकि महाभाष्य में आता है "प्रथम लिंग ग्रहणं चोदितं तद्द्वेष्यं विजा-

नीयात्'' अर्थात् भाष्यकार इस वार्तिक को द्वेष्य मानते हैं।

१८- 'लण्'

सूत्र में अकार मान कर नवीन र प्रत्याहार बना लिया है सो यह पाणिनि मुनि भाष्य तथा नागेशादि सब के विरुद्ध है। यदि पाणनिमुनि के अनुकूल होता तो 'अतो ल्रान्तस्य'' इस सूत्र मे लकार न पढ़ते। र प्रत्याहार से ही दोनों का ग्रहण हो जाता महाभाष्य में—तुल्यास्य०'' सूत्र पर आता है—''इदमपि सिद्धं भवति उपल्कारीयति उपाल्कारीयति यदितर्हि ऋकार ग्रहणेन लृकारग्रहणं संनिहितं भवति—उरणरपरः लृकारस्यापि रपरत्वं प्राप्नोति। लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्याभि''। तच्चावश्यं वक्तव्यं। असत्यां सवर्ण संज्ञायां विध्यर्थम्। तदेवसत्यां रेफबाधनार्थं भविष्यति॥'' यहां रकार लृकार की सवर्ण विधि विषय में "उरण् रपरः लृकारस्यापि रपरत्वं प्राप्नोति'' इस आक्षेप पर भाष्यकार ने उक्त समाधान किया है। जिससे स्पष्ट है कि सवर्ण संज्ञा होने पर भी भाष्य समाधान से कोई दोष न आवेगा। यदि भाष्यकार को 'र' प्रत्याहार ही अभीष्ट होता तो सवर्ण संज्ञा का आश्रयन करके 'र' प्रत्याहार स्वीकार करते। अतः 'र' प्रत्याहार की कल्पना भाष्य विरुद्ध है।

१६- ''अचोयत्'' ॥ ३। १। ६०।

अज्ग्रहणं शक्यमकर्तुं। योग विभागोप्येवं''। सि० कौ।

यहां तो दीक्षित जी ने कमाल हो कर दिया जो पाणिनि तथा पतञ्जलि दोनों मुनियों की त्रुटि निकालने का दुःसाहस किया भला यह दुःसाहस भाष्य विरुद्ध होने से आपका अपमान हो करने वाला है क्योंकि भाष्य में लिखा है—एतावन्तश्चधातवो यदुताजन्ता हलन्ताश्च। उच्यन्ते च तव्यादयस्ते वचनाद्भविष्यन्ति इदं तर्हि प्रयोजनं। अजन्त भूतपूर्वमात्रादपि यथा स्यात्। लव्यम् पव्यम्। आर्धधातुक सामान्ये गुणेकृतेऽपि प्रत्ययसामान्येऽपि धान्तादेशेकृते हलन्तादितिण्यत्प्राप्नोति तथा। दित्स्यम्। आर्धधातुकसामान्ये ऽकारलोपेकृते हलन्तादितिण्यत्प्राप्नोति अज्ग्रहणसामर्थ्यादियमेवभवति। इति।" अर्थात् अच् ग्रहण सामर्थ्य से आर्धधातुक प्रत्यय करने से पूर्व अजन्त धातुओं (लू, पू आदि) से लव्यम्, पव्यम् की सिध्यर्थ यत् प्रत्यय होजाये ण्यत् न हो। और ऐसे ही अजन्त धातुओं के अकार लोप होजाने पर दित्स्यम्-धित्स्यम् इत्यादि में ण्यत् प्राप्त होता है उसको बाधक अच् ग्रहण से यत् ही होजाये।" इतना स्पष्ट भाष्यव्याख्यान होने पर भी समझ में नहीं आता भट्टोजिदीक्षित ने किस प्रकार 'अच्' का प्रत्याख्यान कर दिया

१० वदः सुपि क्यप् च ॥ ३ । १ । १०६ ॥

इस सूत्र में उत्तर सूत्र 'भुवो भावे' से 'भावे' का अपकर्ष किया है सो यह महाभाष्य तथा नागेशादि के भी विरुद्ध है। क्योंकि 'भुवो भावे' सूत्र में महाभाष्य में लिखा है कि 'उत्तरार्थं

हि भाव ग्रहणं कर्तव्यमिति'—अर्थात् इससे आगे इसकी अनुवृत्ति जायेगी। सि० कौ० कारके अपकर्ष विषय में नागेश भी शेखर में लिखते हैं—"इदं चिन्त्यं, "भुवोभावे" इति सूत्रे उत्तरार्थं भावग्रहणं इति भाष्योक्तेः" सससे यह स्पष्ट है कि भाव ग्रहण उत्तर सूत्रों के लिये ही है पूर्व सूत्र के लिये नहीं।

स्पष्ट लिखने पर भी सूत्रों की अस्पष्टता।

"नीचैरनुदात्तः" ।१।२।३०

इति स्पष्टम् (अर्थात् यह स्पष्ट है) सि० कौ०।

सूत्र में कण्ठादि का सम्बन्ध आवश्यक है। तथा "नीचैः" यह अव्यय शब्द है और अव्यय होने से सातों विभक्तियों के अर्थ की प्रवृत्ति होने से नहीं ज्ञात होता है कि कौनसा अर्थ करना चाहिये अतएव इन दो बड़ी आपत्तियों के होते हुये, स्पष्ट लिखना अनुचित ही है।

इसी प्रकार "अनेकाल्शित् सर्वस्य" (१।१।५५) इस सूत्र पर भी इति स्पष्टम् लिखा है अर्थात् यह स्पष्ट है सो अनेकाल्शित् में कर्मधारय समास से एकाल् आदेश जो कि शित् हो उसकी भी सर्व के स्थान में प्राप्ति नहीं होती है तथा ऊपर से "षष्ठी स्थाने योगा" इसकी अनुवृत्ति की प्रतीति होना कठिन है तथा "नानुबन्धकृत०" इस परिभाषा के ज्ञात न होने से शि आदेश को दो अल् वाला मानने की आपत्ति होने से यह सूत्र स्पष्ट नहीं है किन्तु अस्पष्ट ही है। इस प्रकार दीक्षित ने कितने ही सूत्रों को स्पष्ट कह कर पीछा छुड़ाया है। यहां पर विस्तार भय से इतना ही निर्देश पर्याप्त होगा।

—:卐:—

अर्थ दोष

(ले०-आयुष्मान श्री ब्र० विश्वप्रिय शर्मा बिजनौर प्रांतीय

पाठको ! सिद्धांत कौमुदी में अर्थ दोषों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका गिनना अत्यन्त ही दुश्कर प्रतीत होता है। तथापि कतिपय सूत्रों के अर्थ दोष उद्धृत करता हूँ।

७८६- प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषुकृत्याश्च ३।३।१६३

"चकारेण लोटोऽनुकर्षणं प्राप्तकालार्थम्" सि० कौ०। यह कथन सर्वथा असंगत है क्योंकि उक्त सूत्र की महाभाष्यस्थ व्याख्या से स्पष्ट विदित होता है कि तीनों अर्थों में लोट् प्रत्यय होता है,यथा "अयं प्रैषादिष्वर्थेषु लोड्विधीयते स विशेषविहितः सामान्य विहीतान् कृत्यान् वाधेत। (अर्थात् यह लोट् प्रैषादि अर्थों में विधान किया जाता है। विशेष विहित होने से सामान्य कृत्य प्रत्ययों को बाध लेगा)

२८१३- हेतुहेतुमतोर्लिङ् ३।३।१५६

"वास्यात्" सि०कौ०यहां विकल्प की अनुवर्तन करना महाभाष्य केविरुद्ध है क्योंकि यदि विकल्प को स्वरित मानकर अनुवृत्तकरेंगे तो नीचे के इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ इत्यादि सूत्रों में भी विकल्प अवश्य ही हो जायेगा अतः महाभाष्यकार "हेतुहेतुमतोर्लिङ् वा" इस वार्त्तिक को पढ़ते हैं। यदि महाभाष्यकार को सूत्र में ही

विकल्प इष्ट होता तो वार्त्तिक क्यों पढ़ते। बड़े ही आश्चर्य की बात है कि व्याकरण मर्मज्ञ श्री नागेशभट्ट भी महाभाष्य के प्रतिकूल विकल्प का अनुवर्त्तन करते हैं।

वा० अर्त्तिश्रृदृशिभ्यश्च

समो गम्यृच्छिभ्यां १।३।२९ पर उक्त वार्त्तिक में ऋ धातु से आत्मनेपद लुङ् लकार में च्लि के स्थान में सर्त्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्चेति अङ्प्रत्यय करके मासमरत-मासमरेताम् मासमरन्त इत्यादि प्रयोग महाभाष्यकार के विरुद्ध बनाये हैं महाभाष्यकार के 'शासइदङ् हलोः' इस सूत्र के व्याख्यान से निश्चित होता है कि सर्त्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च इस सूत्र में परस्मैपद की अनुवृत्ति है।

३८०३ किंकिलास्त्यर्थेषु लृट् ३।३।१४६

प्रथम सूत्र (अनवक्लृप्ति) में 'गर्हाया' मित्यस्य निवृत्तिः' करके भी इस सूत्र में गर्हायां की अनुवृत्ति लेना चिन्तनीय है क्योंकि यहां पर गर्हा की कोई आवश्यकता ही नहीं है यदि होती भी तो प्रथम सूत्र में ही गर्हा की निवृत्ति न पढ़ कर उत्तरार्थं पढ़ दिया जाता। सो गर्हा का अनुवर्त्तन करना अशुद्ध है।

३४६५- विदांकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम् ३ १ ४१

"पुरुष वचने न विवक्षिते इति शब्दात्" सि० कौ०।

यह कथन बुद्धि और महाभाष्य के प्रतिकूल है। क्योंकि इति शब्द से अन्य स्थलों पर शब्द स्वरूप का बोध होता है. पुरुष और

वचन की व्यवस्था नहीं होती जैसा कि अगले सूत्र 'अभ्युत्सादयां' इत्यादि में भट्टो जि भी स्वीकार करते हैं।

२२६- अधिकरणवाचिनश्च २ । ३ । ५८ ।

"क्तस्य योगेषष्ठी स्यात्" सि० कौ० । यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि क्त प्रत्यय के साथ न लोकाव्यय० २। ३। ६९ सूत्र से कर्त्ता और कर्म दोनों में षष्ठ विभक्ति का निषेध किया है अतः सिद्धांत कौमुदी कार को इसका अर्थ अधिकरण वाचिनः क्तस्य योगे षष्ठी स्यत् यह लिखना चाहिये था।

२९०७ शिल्पि निष्वुन् ३ । ३ । १४५ ।

"भाष्यमते तु नृतिखनिभ्यामेवष्वुन् रञ्जेस्तु क्वुन् शिल्प संज्ञयोः" सि० कौ० । ऐसा कथन महाभाष्य के प्रतिकूल है क्योंकि महाभाष्यकार "नृतिखनिरञ्जिभ्य इति वक्तव्यम् इहमा भूत् वायकः" लिखते हैं। यदिमहाभाष्यकार को रञ्जि धातु से क्वुन् ही इष्ट होता तो तीनों धातुओं को एक साथ ही क्यों पढ़ते । अतः । भट्टो जि का कथन प्रलाप मात्र है।

६२१- प्रेष्यब्रुवो हविषो देवता सम्प्रदाने २ ३ ६१

भट्टोजि महाराज को इस सूत्र की वृत्ति में ब्राह्मणे शब्द की अनुवृति की सूझी ही नहीं। ठीक है सूझती भी कैसे द्वितीया ब्राह्मणे सूत्र को, जहां से ब्राह्मणे की अनुवृति लेकर, इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषोवपाया मेदसः प्रेष्य इत्यादि उदाहरण बनते हैं, वैदिक प्रक्रिया में फेंक दिया है जिसकी संख्या ३३९५ है ऐसा

करने से बड़ा अनर्थ हुआ है क्योंकि ब्राह्मण की अनुवृति न लेने से इन्द्राग्निभ्यां छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य आदि उदाहरण बन ही नहीं सकते।

२८२५- क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः ३।४।२

'धातोर्लोट् स्यात्तस्य च हिस्वौ" सि० कौ०।

यहां यह नहीं समझा कि हिस्वौ जो आदेश है वह लोट् के स्थान में नहीं होते।

यदि महाभाष्य को देखा होता तो पता चलता कि महाभषय-कार इसीलिये योगविभाग करते हैं यथा-हि क्रियासमभिहारे लोट् भवति, ततो लोटो हिस्वौ भवतः, लोडित्यनुवर्त्तते लोटो यौ हिस्वौ इति, कथं वायं तध्वमोरिति। वा च तध्वं भवितो लोट इत्येवमेतद्विज्ञायते।

क्रियासमभिहार अर्थ में लोट के स्थान में हिस्व होते हैं केवल लोट् के स्थान में ह्रस्व नहीं होते।

२८२६- समुच्चयेऽन्यतरस्याम् ३।४३

उपरोक्त सूत्र के अनुसार इस सूत्र में भी योगविभाग बिना दर्शाये हुये ही अर्थ किया है जो महाभाष्य के सर्वथा विरुद्ध है।

७०७- अधिकरणवाचिना च २ १ १३

"क्त प्रत्यय के साथ षष्ठी समास को प्राप्त नहीं होती

सि० कौ० यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है क्योंकि क्तप्रत्यय के योग में कर्त्ता और कर्म दोनों में न लोकाव्य............
२॥ ३॥ ६६ से षष्ठी का निषेध है। जब षष्ठी ही प्राप्त नहीं तो समास के विषय में क्या कहना है इसलिये इसका अर्थ "अधिकरण वाचि क्तान्तेन षष्ठ्या न समस्यते।

२७६८ भूते च ॥ ३ । ३ । १४० ।

"पूर्वसूत्रंसर्वमनुवर्त्तते" सि० कौ० ।

जब इस सूत्र के अर्थ पर विचार करेंगे तब सिद्धान्त कौमुदी के लिखे के अनुसार पूर्व सूत्र को भी अनुवर्त्तित करना पड़ेगा। अब पूर्व सूत्र को अनुबर्त्तित कर अर्थ किया "भूते परस्मिन् विभाषा" यह अर्थ हुआ—जिस को किसी प्रकार भी शुद्ध नहीं मान सकते। क्योंकि इस सूत्र का अर्थ करने के लिये तो उस सूत्र से अनुवृत्ति लानी पड़ेगी जिसकी संख्या सिद्धान्त कौमुदी में २२२६ है इसी प्रकार के सहस्रों सूत्रों का अर्थ समझाने के लिये वही अष्टाध्यायी के क्रम सिद्धान्त कौमुदी में भी अङ्गीकार करना पड़ेगा। इससे सुतराम् सिद्ध है कि—भट्टोजि की कृति भ्रम में डालने वाली है।

२७५४ अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात् ३ । ३ । ८६ ॥

ण्यन्तात्परस्मैपदंस्यात्। अर्थात् ण्यन्त से परस्मैपद हो।

सि० कौ० ।

सूत्रार्थ को सूक्ष्म करने में तो भट्ट जि ने पाणिनि से भी आगे बढ़ने की चेष्टा की है। यहां तक की पाणिनीय सूत्रस्थ पद

को भी वृत्ति से निकाल दिया है इस सूत्र की वृत्ति करने वाले से पूछना चाहिये कि यदि उक्त अर्थ शुद्ध है तो इसे सूत्र की क्या आवश्यकता है क्योंकि जब क्रिया का फल कर्त्ता को नहीं होगा तब शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम् करके परस्मैपद हो जायेगा।

प्राग्रीश्वरान्निपाताः १ । ४ । ५६

इत्यधिकृत्य, सि० कौ०।

इस सूत्र का अधिकार करके ऐसा लिखा है परन्तु इस कथन से कोई अवधि सूचित नहीं होती।

ऊर्यादिच्विडाचश्च इत्यादि ३० सूत्रों में निपात की अनुवृत्ति न लेने से निपात सञ्ज्ञा का अभाव रहेगा इसलिये निपात होने में जो कार्य प्राप्त हैं वह कैसे होंगे।

गातिस्थाघुमापाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु २ । ४ । ७७ ॥

वा०—आहिभुवोरीट्प्रतिषेधः। इस वार्त्तिक को भट्टोजि ने न समझ कर (अस्तिसिचोऽपृक्ते) इस सूत्र का व्याख्यान मूल महाभाष्य और काशिका आदि से बिपरीत किया है जो कदाचित् उनका व्याख्यान ठीक होवे तो वार्त्तिक व्यर्थ हो जावे और असम्भव अभिप्राय सूत्र से निकाला है इसलिये मान्य नहीं हो सकता है क्यों कि ऋषियों के अभिप्राय के विरुद्ध इनके पाण्डित्य को कौन मान सकता है।

पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम् २।२।३४

भट्टोजि का बिना के योग में द्वितीया विभक्ति सिद्ध करना सर्वथा असंगत है क्यों कि महाभाष्य कार ने यहां पञ्चमी की अनुवृति ली है जो द्वितीया की आती तो उसको भी अवश्य ही लिखते और अनभिहित कर्म में द्वितीया हो जाती परन्तु महाभाष्य कार तो कर्मणि द्वितीया २।३।१ सूत्र पर लिखते हैं "ततोऽन्यत्रापि दृष्यते" इसका प्रयोजन यह है कि जिन शब्दों के योग में किसी सूत्र से द्वितीया विधान नहीं और सत् ग्रन्थों में आवे तो उसको इसी कारिका से समझना चाहिये।

लटः शतृशानचौ—३।२।१२४ सूत्र से ३।२ १८८ सूत्र से ३।२।१८८ सूत्र पर्यन्त "वर्त्तमाने" की अनुवर्त्तित न करने से लगभग ६४ सूत्रों की वृत्ति अधूरी रह गयी है श्री भट्टोजि महाराज की इस छोटी सी भूल से इतना अनर्थ हुआ है कि कुछ कहा नहीं जाता क्योंकि सूत्रोक्त प्रत्ययों के विषय में नहीं मालूम-भूत भविष्यत् वर्त्तमान इन तीनों कालों में से किस काल में होंगे। और क्तस्य च वर्त्तमाने २।३।६६ तथा क्तेन च पूजायाम् २।२।११ इत्यादि सूत्रों से षष्ठी विभक्ति तथा समासादि जो कार्य वर्त्तमान काल विहित क्त प्रत्यय के साथ विधान है वह सब नहीं होगें चूँकि भट्टोजि के मत में ञितः क्तः 'मति बुद्धि पूजार्थेभ्यश्च इत्यादि सूत्रों से वर्त्तमान काल में क्त प्रत्यय का विधान ही नहीं है।

सम्मतियां ।

विद्वज्जनों ने अपनी सम्मतियां कृपा कर बड़े विस्तार
के साथ भेजी हैं, परन्तु समय तथा स्थान के
अभाव से अविकल देनेकी प्रबल इच्छा
होने पर भी संक्षिप्त करा कर देने
के लिये विवश होना पड़ा है।
आशा है विद्वद्वृन्द
इस धृष्टता के लिये
क्षमा करेगा।

लेखक—

ओ३म्

महामहोपाध्याय श्री पं० लक्ष्मीधर जी शास्त्री

एम० ए० एम० ओ० एल०

अध्यक्ष संस्कृत-विभाग देहली युनिवर्सिटी

—प्रोफेसर मिशन कालिज देहली—

मेरा विचार इस विषय में यह है कि कोई ऐसा उपाय अवश्य चिन्तन करना चाहिये जिस से कम से कम समय में संस्कृत व्याकरण का अधिक से अधिक बोध हो सके। मेरा यह भी मत है कि जिसने पाणिनीय व्याकरण नहीं पढ़ा उसने मानों संस्कृत ही नहीं पढ़ी।

पाणिनीय व्याकरण द्वारा ही संस्कृत भाषा का पूर्ण बोध हो सकता है.......यह बात निर्विवाद है कि संस्कृत के प्रचार के लिये पाणिनि का अध्ययन करना चाहिये.......अब यह बात स्वभाविक है कि यह अध्ययन पाणिनि के बनाये हुये क्रम के अनुसार ही किया जाये। अन्यथा जो दोष प्राप्त होगा वह यह है कि पढ़ाई में तोता रटन्त होगी और समझ से काम न लिया जायेगा। जो अनुवृत्ति सूत्रों के क्रम-बद्ध पढ़ने से सरलता से उपलब्ध हो सकती है उसके लिये घोटना पड़ेगा और अधिक समय देना होगा। इससे पढ़ाई में कठिनता प्राप्त होगी और और शास्त्रों के पढ़ने के लिए पर्याप्त समय नहीं मिलेगा। भाषा बोध के लिए ही व्याकरण शास्त्र की उप-

योगिता है। आयु पर्यन्त 'डुकृञ् करणे' से क्या लाभ। यह बोध अष्टाध्यायी क्रम से पढ़ने से तुरन्त प्राप्त होगा। ऐसा मेरा अनुभव है। बाल बोध के लिए अष्टाध्यायी के सहायक ग्रन्थ जो प्रकृति, प्रत्यय, अनुबन्ध, परिभाषादि के समझाने वाले हों, जिनको समझकर अष्टाध्यायी में प्रवेश करने में सुगमता प्राप्त हो, शीघ्र ही लिखे जाने चाहिये। संस्कृत भाषा के लिए वह वातावरण उत्पन्न करना चाहिए जो पाणिनि मुनि के काल में था जब उन्होंने अपने ग्रन्थ की रचना की थी। जब तक व्यवहार में संस्कृत का थोड़ा बहुत शब्द बोध और भाषा विज्ञान प्राप्त न होगा अष्टाध्यायी का आरम्भ करना भी असम्भव होगा। किन्तु अब देखना यह है कि वह कौन से कारण हैं जो अष्टाध्यायी क्रम की काशिका टीका को छोड़ कर प्रक्रिया कौमुदी और सिद्धान्त कौमुदी का प्रचार हुआ। मैं यह समझता हूं कि कौमुदी शैली की उस समय आवश्यकता हुई जब व्यवहार में संस्कृत लुप्त-प्राय हो गई। रूप सिद्धि के लिए अष्टाध्यायी का क्रम भङ्ग कर नई शैली की रचना की गई जिसमें संस्कृत शब्दों का बोध जो व्यवहार में न रहा था सरलता से प्राप्त हो जाए, अष्टाध्यायी की विश्लेषणात्म शैली का आश्लेषणात्म परिपाटि में परिणत करना अनिवार्य हो गया। किन्तु अष्टाध्यायी क्रम भङ्ग होने से किसी एक शब्द की रूपसिद्धि तो सुलभ होगई पर और कठिनाइयां ऐसी उपस्थित हो गईं जिनका दूर करना परम आवश्यक है।

इसलिये विद्यार्थियों पर से बोझ हलका करने के लिए मेरा यह अन्तिम निवेदन है कि पण्डित जन एक ऐसी शैली का निर्माण करें जिसका आधार पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी हो और जिसमें सब प्राचीन शैलियों का ऐसा समावेश हो जिसमें संस्कृत साहित्य का अधिक प्रचार हो। आपका यह यत्न अधिक सराहनीय होगा।

॥ इतिशम् ॥

व्याकरण में कृतभूरिपरिश्रम—आचार्यविश्व श्रवाः

अधिष्ठाता आर्य विद्या सभा-आर्य प्रतिनिधि सभा यू० पी०

दस वर्ष कौमुदी द्वारा स्वयं अध्ययनाध्यापन के पश्चात् मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूँ कि···सिद्धान्त कौमुदी असंगत और अविवेक पूर्ण ग्रन्थ है···सिद्धान्त कौमुदी द्वारा अध्ययन करने में निम्न प्रकार जैसे अनेक दोष हैं।

१—अनेकों अनार्ष असत्य बातों की धारणायें बच्चों के हृदय में बैठाई जाती हैं यथा-"नृत्तावसाने नटराजराजः" इत्यादि अर्थात् इति माहेश्वराणि सूत्राणि इत्यादि द्वारा यह सिखाया जाता है कि नचकैयों के राजाधिराज शिव जी ने नाच कर यह १४ सूत्र पाणिनि को दिये। प्रथम तो एक शिव जी की पौराणिक गप्प दूसरे उसे देवता बता कर नट बताना तीसरे असत्य यह यह कहना कि ये सूत्र पाणिनि के नहीं हैं। क्या महाभाष्य में कोई इन गप्पों का गन्ध है ?

२—उदाहरण अश्लीलतादि दोष पूर्ण हैं यथा—'कृष्णाय-तिष्ठते गोपी' --अर्थात् भगवान् कृष्ण का गोपियों के साथ अनुचित सम्बन्ध बताना। ऐसा घृणित आक्षेप कौमुदी के लेखक दीक्षित ने किसी अन्य जाति के महान् आत्मा पर किया होता तो इस लेखक को खोद कर गड़वा दिया होता।

३—इस कौमुदी के लेखक को व्याकरण का भी पूर्ण ज्ञान न था वस्तुतः न दीक्षित को न काशी के वैयाकरणों को प्राचीन वैदिक परम्परायें स्मृत रही हैं......

४—भट्टोजी दीक्षित को वैदिक स्वरों का ज्ञान न होने के कारण वैदिक स्वर प्रकरण में उससे अनेक असावधानियां हुई हैं। हमारे व्याकरण गुरु महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त जी दाधिमथ वैदिक और स्वर विषय में दीक्षित को मूर्ख कहा करते थे जिसे इतना ज्ञान नहीं कि—'कतिपय तिङन्तोत्तरपदोऽयंसमासः' को निश्चित रूप से कह सके।

५—वैदिक विषय को पृथक् पढ़ाना अत्यन्त हानिप्रद है आर्य समाज में रहने वाले दीक्षित के शिष्यों ने आर्य समाज के गुरुकुलों में भी यही प्रथा चलाई। गुरुकुल काँगड़ी, गुरुकुल वृन्दावन दोनों की पाठपद्धति में यह रीति है कि वैदिक स्वर विषय छोड़ कर उसे फिर अन्यत्र पढ़ाते हैं।

६—रामचन्द्राचार्य ने एक ग्रन्थ अष्टाध्यायी के सूत्रों के आधार पर लिखा था जिसका नाम प्रक्रिया कौमुदी है उसमें संज्ञा प्रकरण परिभाषा प्रकरण आदि क्रम से विषय लिखे गये

हैं। दीक्षित ने कौमुदी नाम पुस्तक का तथा प्रकरणों के नाम संज्ञा प्रकरण आदि वहां से नकल किये हैं अर्थात अच्छी या बुरी जो भी हो नवीन शैली जो इसकी प्रतीत होती है यह भी इसकी अपनी सूझ नहीं है। प्रक्रिया कौमुदी ग्रन्थ बड़े पुस्तकालयों में विद्यमान है, दीक्षित कौमुदी जैसा स्थूलकाय है।

७—सिद्धान्त कौमुदी की शैली में वृति कण्ठस्थ करनी होती है दूसरा कोई उपाय ही नहीं। हमारे गुरुजनों ने हमें इतनी वृत्ति घुटवाई कि आज तक इस हजार पृष्ठ के पोथे की वृतियां सब कण्ठस्थ हैं, इतने परिश्रम से वेद उसी समय कण्ठस्थ हो जाते। अष्टाध्यायी के क्रम में इतना रटने का परिश्रम नहीं, क्रम से प्रकरण बद्ध सूत्र याद हों सूत्रों के ही कण्ठस्थ होने से सब व्याकरण विषय उपस्थित रहता है।

८—हमने व्याकरण पढ़ने के बाद अन्य सब अङ्गों सब उपाङ्गों को पढ़ना है केवल व्याकरण ही नहीं याद करते रहना और आवश्यकता इस बात की है कि पिछले पढ़े सब विषय उपस्थित रहें व्याकरण तो अत्यन्त ही आवश्यक है जिसकी अनुपस्थिति में सब विषयों में तथा वेदाध्ययन में अव्यवस्था होगी ऐसी स्थिति मे अष्टाध्यायी तो उपस्थित रह सकती है। इसके अतिरिक्त......जब हम व्याकरण को भूलते हैं तब विचार यह है कि हम क्या भूलते हैं......साधारण बातें नही भूलते और न ही सुप्तिङ् के रूपों को...केवल विशेष नियमों को भूलते हैं......सो अष्टाध्यायी के तद्द विषयक सूत्रों को

जो एक स्थान एक क्रम में सब हैं, पाठ करने से स्पष्ट हो जाता है……परन्तु कौमुदी क्रम द्वारा व्याकरण पढ़ा व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता क्योंकि कौमुदी में एक ही कार्य करने वाले सूत्र एक स्थान पर नहीं। प्रत्युत एक अजन्त पुल्लिङ्ग में है तो दूसरा हलन्त स्त्री लिङ्ग में तीसरा प्रत्यय में चौथा भ्वादिगण में इत्यादि प्रकार से एक विषय के सूत्र सब बिखरे हुए हैं। उन्हें वह हजार यत्न करने पर भी ध्यान में नहीं ला सकता, सिवा उस स्थिति के कि सारे जीवन कौमुदी ही पढ़ता रहे और कुछ न करे इस बात का अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है जिसने पर्याप्त वर्ष सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययनाध्यापन किया हो फिर छोड़ दिया हो जैसा मैंने किया।

मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि कौमुदी द्वारा व्याकरण पढ़ने से अत्यन्त हानियां हैं। यह त्रुटियां विना अष्टाध्यायी के क्रम से पढ़े निकल ही नहीं सकतीं।

१—सिद्धान्त कौमुदी (वृत्तियों) में सूत्रों का ……अर्थ पूरा नहीं है। एक बार एक छात्र जो व्याकरणाचार्य की परीक्षा दे रहा था मुझ से व्याकरण पढ़ने आया करता था स्वर विषय में एक उदाहरण में जिसमें धातु अजादि थी और आट् का आगम लङ् लकार में हुआ था वह उदात्त था वह मुझ से कहने लगा आट् उदात्त कैसे हो सकता है मुझे तत्क्षण यह ध्यान आया कि कौमुदी से सूत्रों के अर्थ पढ़ने के कारण यह विचारा ऐसा कह रहा है तब मैंने उसे समझाया कि अष्टाध्यायी

से पहले अभ्यास कर लो, कौमुदी को बुद्धि से निकाल दो तब व्याकरण ठीक समझ में आवगा । बात यह थी कि—(आडजादीनाम्) सूत्र की वृत्ति में दीक्षित ने लिखा है "अजादीनामङ्गस्याडागमः स्यात्"—यह लिखा ही नहीं कि वह आट् उदात्त होता है । वृत्ति रटने वालों का सूत्र तो वृत्ति ही होता है। आदि से अन्त तक सिद्धान्त कौमुदी और महाभाष्य को रख लिया जावे तो कौमुदी का अशुद्धियों का पोथा कौमुदी से बड़ा बने ।

आर्य समाज के अन्दर रहने वाले दीक्षित के चेले जो आर्य समाज के अन्दर कौमुदी चलाते हैं उनका धर्म यह है कि एक बार कौमुदी का पक्ष लेकर वे मौखिक शास्त्रार्थ करके देखें हमने भी वर्षों सिद्धांत कौमुदी का अध्ययनाध्यापन किया है, मैं महाभाष्य के विरुद्ध कौमुदी पर आक्षेप करूं और वे समर्थन करें ।

विद्यानिधि श्री पं० व्यासदेव, शर्मा, साहित्याचार्य, एम्० ए०, एल् एल् बी० ।

येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी भी भाषा के परिज्ञान के लिये उस भाषा का व्याकरण पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है । जो भाषायें प्रचलित हैं उनका साधारण ज्ञान बिना व्याकरण के भी हो सकता है । किन्तु उस भाषा का नहीं जो कि मृत प्रायः हो चुकी है अर्थात् जिन भाषाओं का जनसाधारण में भाषणादि व्यवहार नहीं है । आज कल वैदिक तथा संस्कृत भाषायें भी इसी अवस्था में हैं इसलिये इन भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिये व्याकरण का अध्ययन अनिवार्य है। बहुत समय से

भारतवर्ष में तथा विशेषतया उत्तर भारत में श्री भट्टो जी दीक्षित कृत व्याकरण सिद्धान्त कौमुदी विशेष रूप से प्रचलित है। और बिना इसके पढ़े हुए कोई भी अपने आपको पण्डित कहने का साहस नहीं कर सकता इसका प्रचार इतना अधिक हो गया है कि इसने पहिले सब व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थों का लोप सा कर दिया है वैयाकरण तो यहां तक कहने का साहस करते हैं कि।

कौमुदी यस्य कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यस्याकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

अर्थात् जिसे कौमुदी याद उसे महाभाष्य पढ़ने से कोई लाभ नहीं। क्योंकि उसमें विशेषता नहीं और जिसे कौमुदी याद नहीं है उसके लिये भी महाभाष्य पढ़ना व्यर्थ है क्योंकि वह उसे समझ ही नहीं सकता। महाभाष्य जो व्याकरण का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है जब उसकी हो यह अवस्था है तब काशिकादि ग्रन्थों की गिनती ही क्या है ऐसी अवस्था में मथुरा से एक ध्वनि सुनाई देती है कि सिद्धान्त कौमुदी जाल ग्रन्थ है अनार्ष है। और परित्याज्य है इस ध्वनि पर स्वयं आचरण करके महर्षि दयानन्द ने इस ध्वनि को प्रतिध्वनित किया उस समय से यह एक विवादास्पद विषय होगया है कि सिद्धान्त कौमुदी परित्याज्य है वा नहीं और यदि परित्याज्य है तो इसके स्थान पर और कौन सा ग्रन्थ होना चाहिये। ऋषि दयानन्द ने कहा कि अष्टाध्यायी आर्ष है सरल है इसलिये उपादेय है हम भी इस छोटे से लेख में इसी विषय पर थोड़ा सा विचार करेंगे।

सिद्धान्त कौमुदी अष्टाध्यायी की एक टीका है और इसमें अष्टाध्यायी के सूत्रों को प्रकरणानुसार व्यवस्थित किया है यह व्यवस्था ही सिद्धान्त कौमुदी की विशेषता है यद्यपि

इस प्रकार की व्यवस्था अन्य आचार्यों ने भी पहिले की थी किन्तु उन ग्रन्थों का लोप हो जाने से इस व्यवस्था का अधिकतर उत्तरदायित्व भट्टो जी दीक्षित पर ही है।

इन दोनों ग्रन्थों में से किसे पढ़ना चाहिये यह एक विचारणीय विषय है।

सबसे पहले हमें यह विचार करना चाहिये कि व्याकरण क्यों पढ़ना चाहिये क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई मन्दभी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता। महाभाष्यकार श्री पतञ्जलि मुनि अपने ग्रन्थ के आदि में ही व्याकरण पढ़ने के प्रोजन लिखते हैं

"रक्षोहागमलध्वसंदेहाः प्रयोजनम् ।"

और इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि वेदों की रक्षा के लिये, वेदों की परिपालना के लिये वेदों में आवश्यकता के अनुसार विभक्तियों के बदलने के लिए तथा अन्य कारणों से वैदिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये व्याकरण पढ़ना आवश्यक है हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि इन प्रयोजनों की प्राप्ति सिद्धांत कौमुदी के पढ़ने से नहीं हो सकती क्योंकि भट्टोजि दीक्षित ने वैदिकी तक स्वर प्रक्रिया को सम्पूर्ण ग्रन्थ से अलग कर गौण रूप से अन्त में सम्मिलित कर दिया है और इस स्थल को कोई महत्व नहीं दिया इसलिये सिद्धान्त कौमुदी का महापण्डित महाभाष्य में लिखित व्याकरणाध्यायन के प्रयोजनों मेंसे एकभी प्रयोजन को पूर्ण करने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये महर्षि पतञ्जलि के कथनानुसार (सि० कौ०) न केवल व्यर्थ अपितु हानिकारक है।

इस अल्पकाय लेख में बहुत अधिक विवेचन तो नहीं हो सकता परन्तु हम थोड़ी सी भट्टोजि दीक्षित की भूलें दिखलाना

आवश्यक समझते हैं और यह आशा प्रकट करते हैं कि विद्वान् लोग इन पर विचार करेंगे।

१—सिद्धांत—कौमुदीकार ने आदिमें ही एक श्लोक लिखा है। "मुनित्रय नमस्कृत्य तदुक्तिः परिभाव्य च।" सब टीकाकारों ने इस का अर्थ यह किया है कि तीनों मुनियों को नमस्कार करके तथा उनकी उक्तियों का आदर करके हम यह समझते हैं कि यह अर्थ ग्रन्थकार के आशय के विरुद्ध है। क्योंकि परि-पूर्वक भू धातु का तिरस्कार अर्थ होता है सत्कार नहीं, यह कभी अन्य टीकाकारों को भी सूझी थी और उन्होंने इसके अर्थ को बदलने का बहुत प्रयत्न किया और जब अन्त में सफलता न मिली तब 'धातुनामनेकार्थत्वात्' कह कर अपना पीछा छुड़ाया। मध्यकालीन दिग्गज विद्वान नागेश मिश्र की भी यही अवस्था हुई है जिसको कि उन्होंने लघुशब्देन्दु शेखर में प्रकट किया है। हम तो यह समझते हैं कि भट्टोजि दीक्षित ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में दो भावों को प्रकट किया है। एक तो यह कि तीनों मुनियों को नमस्कार किया है वह केवल इसलिये कि उन आचार्यों के ग्रन्थ मूल हैं और उनके सिद्धान्तों की अवहेलना करके उनका निरादर किया इसी भाव को दर्शाने के लिये यह श्लोक लिखा है।

२—प्रत्याहार सूत्रों के विषय में लिखा है। इति माहेश्व-राणि सूत्राणि' इसका भाव यह है कि प्रत्याहार सूत्र महेश्वर के बनाये हुये हैं। बड़े २ वैयाकरण शिष्यों को पढ़ाते समय बड़े अभिमान पूर्वक कहा करते हैं। महेश्वरादागतानि इत्यर्थः। इन पण्डितों को अब तक यह न सूझी कि कौन महेश्वर और कब उसने ये सूत्र बनाये, हां कुछ लोगों ने पाणिनीय शिक्षा के नाम से एक पुस्तक घड़ा और उसमें यह श्लोक लिखा।

नृत्तावसाने नटराज राजो ननाद ढक्कां नवपंच वारम् ।
उर्द्धतुकामः सनकादि सिद्धानेतद्विमर्शे शिव सूत्र जालम् ॥

अर्थात् महादेव जी ने नाचते समय चौदहबार डमरू बजाया और इन सूत्रों की उत्पत्ति होगई आज कल के पंडिताभिमानी पण्डितंमन्य इसी बात पर विश्वास किये बैठे हैं। यदि इन लोगों ने महाभाष्य को पढ़ा होता तो ऐसी भूल कभी न करते। महाभाष्य में हयवरट् इस सूत्र पर लिखा है—"एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते, यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति, अचोऽक्षु हलो हल्सु"। अर्थात् यही आचार्य की शैली दिखाई देती है कि वह तुल्य जातियों का तुल्यजातियों में ही उपदेश करते हैं। अचों का अचों में और हलों का हलों में। इसलिये महाभाष्यकार के अनुसार इन सूत्रों का उपदेश करने वाले आचार्य हैं और महाभाष्य के पढ़ने वालों से यह छिपा हुआ नहीं कि आचार्य शब्द का अर्थ महाभाष्य में पाणिनि है, इसके लिए बहुत से उदाहरण दिये जासकते हैं। महाभाष्यकार लिखते हैं १—आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति नो दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवतीति यदयं दीर्घाच्छेतुकं शास्ते। २—आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्यृकाराण्णत्वमिति। यदयं क्षुभ्नादिषु नृनमन् शब्दं पठति। क्या 'दीर्घात्' (६।१।७) और 'क्षुभ्नादिषु च' (८।४।३९) यह भी किसी और के बनाये हुए हैं, पाणिनि के नहीं? इसलिये यह निश्चित सिद्धांत है कि आचार्य शब्द से तात्पर्य महर्षि पाणिनि से है किसी अन्य से नहीं। वस्तुतः इन सूत्रों का नाम शिव सूत्र है। और प्राचीन काल में

लोग ऐसा ही समझते थे। शिव शब्द का अर्थ यहां पर कल्याण है। व्याकरण पढ़ने वाले का सब से अधिक यही (सूत्र) कल्याण करते हैं क्योंकि इनके बिना पढ़े हुए कोई भी अष्टाध्यायी में प्रवेश नहीं कर सकता। यहीं पर शिव शब्द को देखकर नवीन वैयाकरणों ने महेश्वर की कल्पना करली और नाचना और डमरू बजाना पुराणों से लेकर एक कथा बना डाली—जिसने आचार्य पाणिनि के महत्व को कम कर दिया। इन सूत्रों के बनाने में महर्षि की कुशलता अपार है यह किसी से छिपा हुआ नहीं है। किन्तु सिद्धान्त कौमुदी कार को तो अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार महर्षि का निरादर करना था और सि० कौ० के पढ़ने वाले अब भी इसी प्रकार से निरादर करते चले जाते हैं।

३—सिद्धान्त कौमुदी कार की बहुत सी फक्किकाएँ भाष्य विरुद्ध हैं यह सिद्धान्त कौमुदी के टीकाकारों ने पद पद पर दर्शाया है और विशेषकर नागेश मिश्र ने तो लघुशब्देन्दुशेखर में सि० कौ० की एकतिहाई फक्किकाओं का भाष्यविरुद्ध होने से खण्डन किया है। यहाँ स्थान नहीं कि उनको दिखाया जासके। किन्तु लोगों का विचार है कि सि० कौ० कार ने प्रयोगों के सिद्धकरने में कोई भूल नहीं की हाँ फक्किकाओं में भूल होसकती है। परन्तु हम यहाँ दिखलायेंगे कि भट्टोजिदीक्षित ने रूपों के सिद्ध करने में भी भूल की है। अष्टाध्यायी में एक सूत्र आता है "विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्" (३।१।४१) इस पर सिद्धान्त कौमुदी कार लिखते हैं "पुरुषवचने न विवक्षिते"

अर्थात् इस सूत्र में लोट्लकार के प्रथम पुरुष के बहुवचन के निपातन की ही आवश्यकता नहीं है अपितु विद् धातु से लोट् लकार के सब पुरुषों और बचनों में यह निर्दिष्ट निपात होता है- हमारी समझ में नहीं आता कि सि० कौ० कार के इस वचन में क्या प्रमाण है, सब टीकाकार यही लिखते चले आते हैं कि—तथा प्रयोग दर्शनात्—किन्तु किसी टीका कार ने भी कोई प्रयोग लिखने की कृपा नहीं की। हम तो समझते हैं कि यह केवल भट्टोजिदीक्षित के मन की उपज है अन्यथा यदि महर्षि पाणिनि के हृदय का भी यही भाव होता तो वे सूत्र में 'विदाङ्कुर्वन्तु' के स्थान में 'विदाङ्करोतु' पढ़ देते काम चल जाता और मात्रायें कम हो जातीं—वैयाकरणों के घर में पुत्रोत्सव की प्रसन्नता हो जाती।

४—यह भी एक बड़ी भूल की है कि जितने आचार्यों के नाम अष्टाध्यायी में आते हैं उन सब को गौण करके उनका अर्थ केवल विकल्प कर दिया है इससे एक भारी त्रुटि उत्पन्न हो गई है और बहुत से प्रयोग अशुद्ध हो गये हैं और सिद्धान्तकौमुदी पढ़ने वाले उनको ठीक माने जाते हैं। आचार्यों का नाम दे देना केवल आदरार्थक नहीं है। किन्तु उनके सिद्धान्त प्रदर्शन के लिये–उनका दिग्दर्शन भी इस छोटे लेख में नहीं हो सकता।

यह लेख अधूरा रह जायगा यदि इस में उन महानुभावों का वर्णन न हो जिन्होंने ऋषि दयादन्द के अनन्तर अष्टाध्यायी के

प्रचार में क्रियात्मक भूरि परिश्रम किया है वे थे सुनाम धन्य श्री १०८ पूज्यपाद श्री स्वामी शुद्धबोधतीर्थ जी–महाराज आचार्य महा विद्यालय ज्वालापुर, जिस समय आप गुरुकुल कांगड़ी में संस्कृत प्रधानाध्यापक थे तब आपने ही सब से पहिले*अष्टाध्यायी की वृत्ति लिखी और प्रकाशित कराई। और आपने ही सैकड़ों विद्यार्थियों को केवल अष्टाध्यायी महाभाष्य के सहारे से व्याकरण का दिग्गज पण्डित बनाया। आपको अष्टाध्यायी महाभाष्य हस्तामलकवत् थे आपकी निस्वार्थ–भावना, तपोमय जीवन, बाल ब्रह्मचर्य तथा अनुपम चरित्र-बल का ही यह फल है कि आज आर्य समाज में कुछ पण्डित दृष्टिगोचर होते हैं।

लेखक ने भी जो कुछ सीखा है वह आप ही की चरण सेवा से प्राप्त किया है, ऐसे महानुभाव को कोटिशः धन्यवाद देना अष्टाध्यायी के समर्थक का कर्तव्य होना चाहिये। यह परम हर्ष का विषय है कि उन्हीं के चरण-रज से विभूषित श्री पं० राजेन्द्र-नाथजी शास्त्री आचार्य दयानन्द वेद विद्यालय अष्टाध्यायी के पाठन में संलग्न हैं। प्रत्येक आर्य का कर्तव्य है कि वह उनके इस कार्य में सर्वात्मना योग दे।

---

*यद्यपि ऋषि दयानन्द सरस्वती अपने अन्य अपूर्व ग्रन्थ की तरह एक अद्भुत 'अष्टाध्यायी भाष्य' भी कर गये हैं किन्तु अभी तक उसका (अध्याध्यायद्वयम्) प्रथम भाग ही प्रकाशित हुआ है। स०।

कुन्दमाला के प्रसिद्ध टीकाकार
विद्याभास्कर प्रोफेसर श्रीपं० भीमसेनजी

शास्त्री, एम०ए०, एम०ओ०एल०, लाहौर

—:◎:—

शब्द-शास्त्र का विषय अतीव विस्तृत है। वेदों से आरम्भ करके यावत् शिष्ट ग्रन्थ इस विषय के हैं। इसमें वर्ण-विकार के उत्सर्ग-रूप सिद्धान्त ही दुर्ज्ञेय हैं, अपवादों की तो कथा ही क्या है। ऐसे गहन विषय को अनुपम लोकोपकारक उपज्ञाऽऽगार अभूत पूर्व प्रतिमा के धनी महा-महिम-मण्डित श्री पाणिनि मुनि ने साढ़े नौ सौ अनुष्टुपों में बाँध दिया है। पाणिनीयाष्टक क्या है, गागर में सागर है। इतना विलक्षण संक्षेप कोई जादू के बल से नहीं होगया है। प्रत्याहार, अनुबन्ध परिभाषाएँ तथा अनुवृत्ति आदि की पद्धतियों के सहाय से ही यह असम्भवनीय चमत्कार सम्भव हो सका है॥ वैयाकरण जानते हैं कि सूत्रों के पौर्वापर्य का विशेष महत्व है। यदि आचार्य अनुवृत्ति पौर्वापर्य तथा षष्ठ अध्याय की आभीय असिद्धताओं एवं अष्टमाध्याय की त्रैपादिक असिद्धताओं की विलक्षण व्यवस्थाएँ न बाँध पाते तो यह ग्रन्थ सम्भवतः ५००० श्लोकों से न्यून कदापि न होता। अनुवृत्तियों का महात्म्य विस्मय जनक है। एक उदाहरण ही यहाँ प्रर्याप्त होगा

स्थापित क्रम से सूत्र पाठ कण्ठ हुए बिना वैयाकरण की वही दयनीय दशा है जो बिना खाते के साहूकार की होती है।

पाणिनीयाष्टक की रचना-पद्धति के इन आवश्यक अंगों पर प्रकाश डालने के पश्चात् अब हम व्याकरणाध्ययन-पद्धति की संक्षिप्त मीमांसा करते हैं। प्रयोग-सिद्धि में भिन्न भिन्न प्रकरणों के सूत्रों का कार्य होता है। इनका क्रम भी एक जटिल विषय है। इस उलझन को सुलझाने के अर्थ १५वीं खीष्ट शताब्दी के एक पंडित रामचन्द्र ने प्रक्रिया-कौमुदी लिखी, तथा सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में पंडित शेष श्रीकृष्ण ने इस प्रक्रिया-कौमुदी की व्याख्या प्रक्रिया प्रकाश नाम से लिखी। इस प्रकार व्याकरणोपज्ञ आचार्य श्री पाणिनि मुनि के आविर्भाव से लगभग सत्रहवीं खीष्ट शताब्दी के अन्त तक अर्थात् आज से कोई ढाई सौ वर्ष पूर्व तक अष्टाध्यायी सूत्र-क्रम से ही व्याकरण पढ़ा जाता था। प्रयोग सिद्धि जानने के सहायभूत ग्रन्थ प्रक्रिया कौमुदी तथा प्रक्रिया-प्रकाश भी बरते जाते थे। इन उपयुक्त पं० शेष श्रीकृष्ण के शिष्य भट्टोजिदीक्षित ने वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी बनाई। इसमें संभवतः प्रातिपदिकों के तथा धातुओं के रूप सिद्ध करने में तो पूर्णतः प्रक्रिया-कौमदी का अनुसरण किया गया है, पर साथ ही अष्टाध्यायी के शेष प्रकरण भी संनिविष्ट कर दिये गये हैं, हाँ वैदिक-प्रक्रिया के सूत्रों को दूध में पड़ी मक्खी की भाँति पृथक् करके ग्रन्थान्त में परिशिष्टवत् जोड़ दिया है।

आचार्य का एक सूत्र है "आद्गुणः"। ६ । १ । ८७ । इसमें केवल तीन अक्षर (syllabbles) हैं यदि अनुवृत्ति की परिपाटी न होती तो आचार्य को आदचि पूर्वपरयोरेकोगुणः संहितायाम्, अयंगुणः पूर्वादिवत् परान्तवच्च—इस रूप में २६ अक्षरों में यह नियम लिखना पड़ता। इस अनुवृत्ति—दाता ही की महिमा है कि कण्ठ करने का विषय अतीव संक्षिप्त होगया। अन्यथा तीन अक्षरों के स्थान में २६ अक्षर घोटने पड़ते।

अनुवृत्ति के अतिरिक्त पाणिनीय प्रकरणों का बड़ा माहात्म्य है। यह बात एक लौकिक उदाहरण से स्पष्ट हो सकती है। साहूकार (bankers) रोकड़ तो लिखा ही करते हैं पर वे लेन—देन का एक खाता भी प्रति मनुष्य का पृथक् बनाते हैं। रोकड़ से तो वे अपने आय व्यय की पड़ताल करते हैं, पर जब उन्हें लेन—देन वालों से व्यवहार करना होता है तो केवल खाते से ही प्रयोजन होता है। यदि साहूकार को स्वयं अपनी पड़ताल की आवश्यकता न हो तो बिना रोकड़ काम चल सकता है, पर बिना खाते के व्यवहार असम्भव है। खाते पर एक दृष्टि डालते ही तुरन्त पता चल जाता है कि किस मनुष्य से कब क्या प्राप्ति हुई और कब उसको क्या दिया गया और अब परस्पर व्यवहार किस स्थिति में है। श्री पाणिनीय शब्दानुशासन के प्रकरण भी खातों के समान हैं। एक प्रकरण का पाठ करते ही उसके उत्सर्ग अपवाद करतलाऽऽमलकवत् सामने आजाते हैं। बात का पूरा निश्चय होजाता है। आचार्य के

किसी भी वस्तु के हानि-लाभ प्रयोग करने पर ही पूर्णतः विदित होते हैं। अब कौमुदी का पर्याप्त प्रचार रह चुका है। अतः अब हम इसके गुण दोषों की यथार्थ परीक्षा करने में समर्थ हैं। आजकल इस विषय पर समाचार पत्रों में विचार चल भी रहा है अतः हम भी विद्वज्जन के विचारार्थ अपनी धारणा प्रस्तुत करते हैं। यहाँ हम एक बात स्पष्ट कर देना चाहते हैं। अनेक लोग इस आन्दोलन में व्याकरण–शैली पर विचार करने उतरे जान पड़ते हैं पर वे व्याकरण अथवा संस्कृत मात्र की कठिनता अथवा उपयोगिता अनुपयोगिता पर व्याख्यान झाड़ डालते हैं। उनकी सेवा में नम्र निवेदन है कि वह एक पृथक् विषय है। गुरुकुलों में संस्कृत पढ़ाई जावे या न पढ़ाई जावे और पढ़ाई जावे तो एक लीपा-पोता शास्त्री नाम धारी सा तैयार किया जावे या वास्तविक शास्त्रज्ञ यह सब विषयान्तर हैं। इस लेख में हम उन समस्याओं को सुलझाने नहीं बैठे। हमारा विषय तो केवल इतना है कि जो जन वस्तुतः संस्कृतज्ञ बनना चाहते हैं अथवा कम से कम साधारण या उच्च वैयाकरण उनके लिये सूत्र-परिपाटी विशेष हितकर है वा कौमुदी-क्रम ? हमारा अपनी तुच्छ-बुद्धि तथा तुच्छानुभव के बल पर दृढ़ विश्वास है कि प्राचीन शैली ही एकान्त प्रशस्य है। अर्थात् अष्टाध्यायी-क्रम से सूत्रों के विषय (उत्सर्ग अपवाद) तथा प्रकरणों का यथावत् बोध प्राप्त करना चाहिये। सुबन्त, तिङन्त प्रकरणों के अर्थ रूप-सिद्धि में सहायतार्थ प्रक्रिया कौमुदी

अथवा कोई और तत्समान पुस्तक (यथा गुरुकुल कांगड़ीसे प्रकाशित नामिक व आख्यातिक, अथवा वेदाङ्ग प्रकाश के ये भाग) बरती जा सकती है। इस अंश में कौमुदी भी कुछ-कुछ सहायता दे सकती है पर पूर्णतः नहीं। इस पर जो विशेषतः आश्रित होंगे वे वैदिक प्रयोगों के ज्ञान से प्रायः वंचित रह जायेंगे। सूत्रों का अर्थ, उत्सर्ग-अपवाद का विषय, प्रकरणों का यथावत् ज्ञान, पौर्वापर्य का निश्चय कौमुदी-पाठियों को असंभव प्राय है। जो आधुनिक वैयाकरण-शिरोमणि हैं उन्होंने कौमुदी से उत्सर्ग अपवाद का ज्ञान तो प्राप्त कर लिया है पर कैसे ? एक वर्ष में सम्यक् सिद्ध होने वाले कार्य पर ८-१० वर्ष अविश्राम श्रम करके और फिर सारा जीवन इसके पढ़ने पढ़ाने में लगाकर इतने पर भी सूत्र-पाठी को जितना ज्ञान होता है, उसके एक महत्व-पूर्ण अंश अर्थात् सूत्रों के पौर्वापर्यज्ञान से वे सर्वथा वञ्चित हैं। एक महा-पण्डित का उल्लेख यहाँ असंगत न होगा। कौमुदी पर बाल मनोरमा टीका लिखने वाले श्री वासुदेव दीक्षित महा-वैयाकरण हुए हैं। इस युग में तो उनका ग्रन्थ जितना कौमुदी-प्रचार-सहाय है उतना दूसरा नहीं। काशी आदि के उद्भट पंडितों को छोड़ शेष प्रायः सारे कौमुदी अध्यापक इसके आश्रित हैं, नित्य ही सहस्रशः पंडित तथा छात्र इसकी सहायता से निर्वाह कर रहे हैं। ये वासुदेव दीक्षित उत्तम वैयाकरण हुए हैं महाभाष्य उन्हें कण्ठाग्र था शेखरादि सब टीकाग्रन्थ सब उनकी जिव्हा पर नाचते थे। पर सूत्रों के पौर्वापर्य-ज्ञान के विषय में

इन पंडित-तल्लज की दशा परमार्थतः दयनीय है। इन्हें सूत्र-पाठ कण्ठ नहीं है। पौर्वापर्य का ज्ञान कहाँ से हो। सिद्धान्त कौमुदी में एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८६/७३ सूत्र की व्याख्या में 'अवैहि' प्रयोग की असाधुता दिखाते हुये लिखा है—'पुरस्तादपवाद-न्याये नेयं वृद्धिः 'एङि पर-रूपम्' (६।१।९४) इत्यस्यैव बाधिका, न तु ओमाङोश्च'(६।१।९५) इत्यस्य, तेन 'अवैहि' इति वृद्धिरसाधुरेव इन सूत्रों में से 'एङि पर रूपम्' के पश्चात् ही ओमाङोश्च है। पर वासुदेव दीक्षित की धारणा है कि इन दोनों के मध्य में कुछ सूत्र और भी हैं। यहाँ स्पष्ट है कि इन्हें सूत्र-पाठ कण्ठ नहीं हैं। बात है भी ठीक। कौमुदी पाठियों में अष्टाध्यायी कण्ठ करने की प्रवृत्ति रहती ही नहीं। इसी का यह फल है कि 'यञश्च' ४।१।१६ सूत्र की कौमुदी की व्याख्या करते हुये श्री वासुदेव 'हलस्तद्धितस्य' (६।४।१५० सूत्र से 'यस्येति च' (६।४।१४८) सूत्र को पर बताते हैं। कौमुदी का प्रचार होजाने से वास्तव में व्याकरण का लोप ही होगया है। अब जिसके पास सारा जीवन व्याकरण में लगाने को नहो वह व्याकरण ढँग से पढ़ता ही नहीं। नाम मात्र लघु कौमुदी पढ़ी और दूसरे विषयों में लग गया। कई सज्जन इसी भय से सारस्वत आदि की शरण लेते हैं। जिसने घोर श्रम से १४-१५ वर्ष में व्याकरण पढ़ लिया, वह यदि सारा जीवन केवल इसी के पढ़ने पढ़ाने में लगा दे, और कुछ न पढ़े पढ़ावे तो यह

उसे उपस्थित रह सकता है। नहीं तो आया गया हुआ। सारी कौमुदी का पाठ करने में अष्टाध्यायी की अपेक्षा लग-भग पन्द्रह गुना समय लगता है। इसको एक बार कंठ कर लेना ही ६० प्रतिशत परिश्रमी विद्याभिलाषियों के लिये भी असम्भव है और फिर उपस्थित रख सकना तो एक प्रतिशत के लिये भी कठिन है। इन कठिनताओं से व्याकरण बड़ा हौआ बन गया है, लुप्त-प्राय हो गया है और रहा-सहा भी अस्तोन्मुख है। अष्टाध्यायी का कण्ठ करना अपेक्षाकृत अतीव सरल कार्य है और उपस्थित रखना बहुत ही सुगम है। ज्ञान ठीक-ठीक इसी शैली से होता है।

कौमुदी सहस्रशः अशुद्धियों से पूर्ण है। इनमें से शतशः तो शेखरकार की ही दिखाई हुई हैं। काशीस्थ पण्डित पढ़ाते समय सहस्रशः स्थलों का खण्डन करते हैं। उनकी टिप्पणी होती है कि दीक्षित ने यह बात भाँग पीकर लिखी है आदि— अशुद्धियों के उदाहरण र-प्रत्याहार की कल्पना आदि हैं। 'लटः शतृ०' ३।२।१२३ पर प्रथमासमानाधिकरण मेंक्वाचित्क प्रयोग दिखाते हुये 'सन् ब्राह्मणः' के साथ वैकल्पिक प्रयोग 'अस्ति ब्राह्मणः' के न देने से लोगों को घोर भ्रम में डाल रक्खा है। जिसका परिणाम यह है कि यदि कहीं वैसा प्रयोग लोगों को दिखाई देता है तो उसे सर्वथा अशुद्ध समझते हैं। कुन्दमाला के संवासयन्तः (६) जो कि संवासयन्ति के स्थान में है, को लोगों ने अशुद्ध घोषित किया है। भास के नाटकों में तथा कुन्द-

माला में कौशल्यामात सुभिचामात आदि प्रयोग मिलते हैं। यहाँ 'मातृणां मातच् पुत्रार्थ मर्हते' (७।३।१०७) वार्तिक के अनुसार मातृ शब्द को मात आदेश होता है कौमुदीकारने इस वार्तिक को लुप्त कर दिया है। फल यह है कि लोग सयझते हैं कि ये प्राति पदिक ऋकारान्त हैं, और यहाँ कप् प्रत्यय न करना कवि का प्रमाद है, और सम्बोधन में इन अकारान्त शब्दों के आगे विसर्ग जोड़ मारे हैं। पाठ अशुद्ध कर दिये हैं और इनका ठीक अर्थ (कौसल्या का योग्य पुत्र आदि) तो सर्वथा भूल गया है। ऐसे अनेकशः प्रमाद कौमुदी में हैं पर मैं इन दोषों के ही कारण कौमुदी को हेय नहीं समझता। प्रमाद मनुष्य से हो ही जाते हैं। आगे लोगों को भ्रम-निरास कर देना चाहिये। कौमुदी का सबसे बड़ा अपराध यही है कि इसने व्याकरण के अध्ययन को अशुध्द मार्ग पर डाल दिया और अतीव कठिन बना डाला। इसके कारण अष्टाध्यायी कण्ठ करने की प्रवृत्ति जाती रही और पौर्यापर्य विवेक जाता रहा। इससे और इसकी टीकाओं से ही लोग पार नहीं पा पाते और महाभाष्य के अप्रचार का यही प्रधान कारण है और यह बात व्याकरण के मूल पर आधान है। सिर काट कर बालों में तेल लगाने के समान है। महा-मूल्य ग्रन्थों का लोप करके उनके ऊटपटांग पर सुहावने लगने वाले नोटों में जीवन-यापन के प्रति रूप है।

विद्याभास्कर श्री पँ० रमेशचन्द्र शास्त्री

अध्यापक

संस्कृत पाठशाला शाहपुर स्टेट

[शास्त्रीजी ने अपने विस्तृत लेख में सिद्धान्त कौमुदी के गुण और दोष दोनों दर्शाये हैं। और निष्कर्ष में अष्टाध्यायी द्वारा अध्ययन को ही उत्कृष्ट माना है। स्थाना भाव के कारण यहाँ पर उनके दर्शाये दोष ही उद्धृत किये जाते हैं।

लेखक]

—: सिद्धान्त कौमुदी पढ़ने से हानि:—

१ सबसे अधिक हानि यह हुई कि महा भाष्य जैसे मान्य आर्षग्रन्थ का पठन पाठन प्रणाली से नाम उठ गया क्योंकि सिद्धान्त कौमुदी पढ़ने वाले छात्र मनो रमा शेखर आदि उसकी टीकाओं के रटने में समय बर्बाद करने लगे क्योंकि विना मनोरमा व शेखर पढ़े सिद्धान्त कौमुदी को पढ़कर भी पढ़ादेना आसान बात नहीं है।

२ पठन पाठन प्रणाली से महा भाष्यका नाम निकल जाने पर व्याकरण का उतना विस्तृत ज्ञान नहीं रहा जितना कि होना चाहिये था।

३ सिद्धान्त कौमुदी की मनोरमा शब्द रत्न या शेखर प्रभति टीका नुटीका में इतना शाब्दिक ज्ञान नहीं करा सकती है जितना कि

महा भाष्य में की गई व्याख्या; इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं होसकता।

४ सिद्धान्त कौमुदी के विषय में स्तुति परक ऐसे श्लोक लिखे गये हैं जिनसे कि भाष्य के ऊपर अश्रद्धा प्रकट होजाय। जैसा किसी ने लिख दिया है—

कौमुदी यस्य कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
यस्य कौमुद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

इस पद्य का अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है इसे पढ़ते ही स्पष्ट ज्ञात होजाता है कि यह महा भाष्य के ऊपर कितना कठोर कुठारा घात है ऐसे वचनों को पढ़कर अवश्य ही छात्रों के हृदय सरोवर में महा भाष्य के प्रति अकिञ्चनता के कमल विकसित होसकते हैं।

५ सिद्धान्त कौमुदी में स्थान २ पर शङ्का समाधान रूप से आई हुई फक्किकाओं के फीके फैनों में फंसकर छात्र की कोमल बुद्धि किं कर्तव्यबिमूढ़ होजाती है। एक बार दो बार तथा तीन बार समझाने पर भी जब छात्र को उनके वास्तविक मर्म मालूम नहीं होते छात्र का अपरि स्फुट मस्तिष्क मर मर कर भी उसके हृदयों से अपरिचित ही रहता है तब वह व्याकरण शास्त्र को शुष्क नीरस मरुस्थल समझता है वह नहीं चाहता है कि इस रेतीले मैदान में चक्कर लगाया जाय।

(नोट) हां सिद्धान्त कौमुदी की फक्किकाओं के विषय में एक आवश्यक वात कहदेना भी अनुपयुक्त न होगा।

वह यह है कि फक्किकाओं के पढ़ाने विषयक अध्यापकों के मस्तिष्क से निकलने वाली कोट्यनुकोटि शङ्का समाधान रूपी वृष्टि धारा-जोकि छात्रों के नवनीत के समान कोमल न चिकने चित्त पर अपना चिरस्थायी असर कायम नहीं कर सकती। अध्यापक वर्ग जिनका मष्तिष्क शेखर व मनोरमा में रमण करना चाहता है। छात्रों के कोमल कन्धों की धौरेय शक्ति न जानकर उन पर कोटयनुकोटि शङ्का समाधान रूपी विकट शकट के भार को रख देते हैं, उसके सहने में असमर्थ हुए छात्र अपना कन्धा डाल देते हैं और हमेशा के लिये दु:ख उठाते हैं।

व्याकरण विषयक अधिक से अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये अष्टाध्यायी से उपयुक्त महत्व शाली अर्थ गौरवान्वित ग्रन्थ संस्कृत भाषा भंडार में गहरी डुबकी मारने पर हाथ न आवेगा जिस नीव पर संस्कृत साहित्य की विशाल मीनार अचल रूप से खड़ी हुई है उस नीव को जिसका बनाने वाला महा मुनि पाणिनि जैसा गणितज्ञ हो दोषी कहना स्वयं दोषी बनना है जिस पुस्तक के विषय में महर्षि पातंजली अपनी वह राय रखते हों कि—

'प्रमाण भूत आचार्यो दर्भ पवित्र पाणि:
शुचा नव काशे प्राङ्ग मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयतिस्म, तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम् किं पुनरियता सुत्रेण।"

१। १। ३

लौकिक तथा वैदिक शब्द सागर के पार उतरने के लिये अष्टाध्यायी जैसे महान् सेतु के निर्माता प्रमाण भूत आप्त वाक्

अचार्य दर्भ पवित्र पाणि होकर पवित्र स्थान में पूर्व दिशा को मुख करके बड़े प्रयत्न से सावधान तय। सूत्रों का प्रणयन करते थे जिन सूत्रों के अवयव भूत अक्षर का भी अनर्थक होना असम्भव है फिर पूरा सूत्र तो अर्थ रहित हो ही कैसे सकता है।

यदि व्याकरण के प्रौढ़ विद्वान तैयार करने हों तब तो पठन पाठन प्रणाली में अष्टाध्यायी का ही पुनः प्रचलन परम आवश्यक है।

बिना अष्टाध्यायी या महाभाष्य के मर्म को समझे चिरकाल में भी व्याकरण का उतना विस्तृत ज्ञान नहीं हो सकता जितना कि होना चाहिये।

त्यागी, तपस्वी, ब्रह्मचारी,
श्री पं० जीवनदत्त शर्मा
अध्यक्षः संस्कृत विद्यालय नरवर्स्य

पदज्ञानमेव व्याकरणाध्ययनस्य प्रयोजनमस्ति तच्चाष्टाध्यायीपठनेन लघीयसा कालेन सिध्यति । यद्यपि सिद्धान्तकौमुद्या अधिकः प्रचारः साम्प्रतं लोकेऽस्ति परं लौकिक वैदिकानां शब्दानां साधुत्वे तेषां(सिद्धान्त, कौमुद्यध्येतॄणा) तादृशी शक्तिर्न भवति यथा शास्त्रार्थस्य शक्तिर्दृश्यते प्राचीन- ग्रन्थानां प्रचारो ममापीष्टः । मूलाष्टाध्यायीमन्तरेणानुवृत्तिज्ञानमपि न भवति, मूलपाठस्तु कौमुदीपाठकानामपि सर्वथाऽपेक्षते । वस्तुतस्तु वेदानां रक्षार्थं व्याकरणादि वेदाङ्गानामध्ययनमस्ति, न हीदानीं सङ्गवृद्ध्याङ्गिनमध्येतुं कालोऽवशिष्यते । एकाङ्गध्ययने हि द्वादशाब्दा अपेक्षन्ते सति प्रत्यब्दमुत्तीर्णे विद्यार्थिनि तदापि न समाप्तिं गच्छन्ति व्याकरण ग्रन्थाः शेखराद्योऽपि भाष्यस्यतु का कथाऽन्याङ्गानि तु निरुक्तादीनि पुस्तक विक्रेतॄणां तिष्ठन्त्यापणेषु । किं वक्तव्य पठन-पाठन शैल्याऽऽधुनिक्या महती हानिः कृता देशस्य धर्मस्य च । सर्वैर्मिलित्वा शुद्ध भावेन परीक्षाक्रमः परिमार्जनीयः । आचार्यतां गत्वाऽपि बहवो महाशयाः शुद्ध संकल्पमपि वक्तुमयोग्या अनुभूयन्ते । कर्मकलापं श्रौतं स्मार्तं वा सर्वथैव न जानन्ति प्रपाजानुयाजानां किं स्वरूपमिति बुद्धेः परम् ।

संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान श्री पं० गणेशशङ्कर वेदतीर्थ उपाध्याय गुरुकुल हापुड़ (मेरट)

क्व पाणिन्युक्तं व्याकरणमतिदीप्तं दिवि रविः,
क्व रूपं कौमुद्यास्तदपि रवि लोकादवहृतम् ।
वयं नो जानीमः कथमिह समाजे समजनि,
घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः ॥

पाणिनि मुनि ने तीन(अर्थात्) १-व्याकरण पूर्ण हो (२) सूत्र संख्या कम से कम हो ३-क्रम अत्यन्त सरल हो। —विशेषताओं का ध्यान रखते हुये उनको जो क्रम उत्तम प्रतीत हुआ उसी क्रम से सूत्र रचना की। सब ऋषियों ने इसी क्रम को सरल समझा वार्त्तिककार कात्यायन मुनि,महर्षि पतञ्जलि ने भी इसी क्रम को उत्तम मान कर वार्त्तिक बनाये, महाभाष्य लिखा। महाभाष्य में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर पाणिनि मुनि के एक सूत्र को भी अस्त व्यस्त करने में महान अनर्थ बताया है।

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी के रचयिता भट्टोजिदीक्षित ने इस क्रम में सर्वथा परिवर्त्तन कर दिया है। दीक्षित जी के मस्तिष्क में यदि यह विचार था कि कौमुदी का क्रम सरल है तब उनको अपने ही क्रम के अनुसार सूत्र रचना करनी थी ······ (चाहे) शब्दसमूह पाणिनि मुनि के शब्दसमूह से २० गुना हो जाता तब भी इतनी कठिनाई न पड़ती जितनी अब पड़ती है जब कि

पाणिनि मुनि की सूत्र रचना अन्य क्रम को लक्ष्य में रख कर है और दीक्षित जी ने उन्हीं सूत्रों से अन्य क्रम का निर्माण किया है। यदि दीक्षित जी के अनुयायी यह कहें कि सि० कौ० ने अष्टाध्यायी का मार्ग सरल कर दिया है तो यह बड़ा भ्रम और धोखा है। कौमुदी ने तो उस मार्ग को, कठिन कुटिल और भयंकर बनाया है।

अष्टाध्यायी पढ़ने वाले छात्र को कहीं पर भी वृति नहीं रटनी पड़ती, केवल "ओः सुपि" सूत्र का स्मरण मात्र पर्याप्त है। कौमुदी वालों को "ओ; सुपि। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णास्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचो ऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ सुपि।,, इतना रटना पड़ता है। इसी प्रकार समस्त सूत्रों की वृत्ति का स्मरण करना आवश्यक है। वृति का यदि एक शब्द भी स्मरण न रहे तब वह छात्र एक पैसे का भी नहीं रहता। अष्टा-ध्यायी से दसगुना परिश्रम सिद्धान्त कौमुदी में करना पड़ता है फिर भी पूर्ण व्याकरण नहीं आता।

राष्ट्रीय आन्दोलन में जब हम सब जेल गए और पाशविक व्यवहार हमारे साथ हुआ तब हमने जेलर साहिब से सैकड़ों बार कहा आप हमको जेल के नियम दिखावें, उन्होंने हर बार यही उत्तर दिया कि जो कुछ हम कहते हैं वही नियम हैं। हमने पूछा के नियम पुस्तक को बिना देखे हम यह कैसे विश्वास करें कि आप नियम पुस्तक के अनुसार कहते और व्यवहार करते हैं। फिर भी पूर्वोक्त ही उत्तर मिला। यही मैंने व्याकरणाचार्य

परीक्षा में उत्तीर्ण अपने एक मित्र से कहा कि दीक्षित जी जेलर हैं और आप लोग जेल के बन्दी। आपको भट्टोजि दीक्षित की बात पर मुसलमानों और बन्दियों की तरह विश्वास करना पड़ता है।

मुसलमान बिचारों को क्या पता कि फ़रिश्ता जिस इलहाम को खुदा के पास से लाता है मुहम्मद साहिब उसको सही बतलाते हैं या उसमें गड़बड़ करते हैं। बन्दियों को क्या पता कि जेलर साहिब वही नियम बतला रहे हैं जो नियम पुस्तक में हैं। आपको भी क्या पता कि भट्टोजि दीक्षित अर्थ सत्य बतलाते हैं या असत्य जब उन्होंने इस बात को स्वीकार न किया तब मैंने उनसे "आमि सर्वनाम्नः सुट्" का अर्थ पूछा उन्हें दीक्षित जी की बनाई वृत्ति स्मरण थी तुरन्त ही बोल उठे "अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यात्"। मैंने प्रश्न किया कि सूत्र में तो अवर्णान्त पद नहीं यह अर्थ क्यों किया, उत्तर मिला पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति आती है मैंने फिर पूछा कि इसके पूर्व में कौन सूत्र है जहां से अनुवृत्ति आई, इसका कोई उत्तर न मिला दो चार सूत्र स्मरण और इधर उधर से खोजकर सूत्र भी बोले जिनका अवर्णान्त अर्थ होता था, परन्तु सारा प्रयोस व्यर्थ ही रहा, अन्त में यही कहना पड़ा कि भट्टोजि दीक्षित ने यही अर्थ लिखा है। कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा, भानवती ने कुनवा जोड़ा इसके अनुसार भी न जोड़ने पाये। जहां से अनुवृत्ति आती है उस सूत्र पर ध्यान भी न गया, आता कहां से "आमि सर्वनाम्नः सुट

कौमुदी में २१७ नं० पर है और जहां से अनुवृत्ति आती है वह "आज्जसेरसुक्" २१७२ नं० पर, और भी एक बार मार्ग में चर्चा छिड़ गई। हम दोनों में से पुस्तक किसी के पास नहीं थी, उनको सम्पूर्ण कौमुदी अच्छी तरह स्मरण थी मुझे अष्टाध्यायी कई स्थलों पर विस्मृत प्रायः हो गई थी। मैंने पूछा "रामः" प्रयोग में "अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तुर्वा" से अनुनासिक क्यों नहीं हुआ, वे बोले कि यहां पर प्रातिपदिक का सकार नहीं है, मैंने कहा कि सूत्र में इस प्रकार का कोई बन्धन नहीं है कि वह प्रातिपदिक का ही सकार हो; यदि यही बात है तो छन्दोभ्याम् में होना चाहिये यहाँ तो प्रातिपदिक का ही सकार है वे कुछ सोच समझ कर बोले कि भट्टोजि दीक्षित ने "वृत्ति में अत्र रुप्रकरणे" लिखा है, उन्होंने संस्कर्ता और कांस्कान् आदि के प्रयोगों से अनुमान लगाया कि "अत्र रुप्रकरणे" का यही अर्थ है कि जहाँ पर मकार और नकार के स्थान में रुत्व हुआ हो। उनका यह कथन सत्य तो नहीं था परन्तु मैंने यह भी स्वीकार किया और कहा कि अच्छा ? "अत्र रुप्रकरणे" का यही अर्थ सही अब बताओ कि "अहोभ्याम्" प्रयोग में "अहन्भ्याम्" इस स्थिति में नकार को रुत्व करने पर अनुनासिक क्यों नहीं हुआ, इसका ये कुछ भी उत्तर नहीं दे सके।

सिद्धान्त कौमुदी के छात्र—बिना कौमुदी हाथ में लिये सर्वथा अनाथ और असहाय हैं। जिन्हें इस पर विश्वास न हो वे एक ऐसे व्यक्ति को खोज करें जिन्होंने अष्टाध्यायी न पढ़ी हो और

न कण्ठ की हो १२ वर्ष कौमुदी मनोरमा आदि पढ़ कर आचार्य परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की हो फिर लगातार कम से कम ४२ वर्ष पढ़ा कर अनेक छात्र आचार्य पास करा दिये हो अर्थात् जिन्होंने ५४ वर्ष निरन्तर व्याकरण पर परिश्रम किया हो। उन्हें कोई पुस्तक न देकर "क्तस्याचि" और "द्वारादीनां च" इत्यादि सूत्रों का अर्थ पूछ जब वह बतला दें तब उनसे नम्र शब्दों से पूछें कि गुरू जी "क्तस्याचि में लोप अर्थ और "द्वारादीनां च" में वृद्धि अर्थ कहाँ से गया सूत्र में तो कोई पद नहीं है। बस यहीं पर गुरू जी की विद्या का अन्त है। वृत्ति बोल कर यही कह सकते हैं कि दीक्षित ने ऐसा लिखा है। इसके अनन्तर कौमुदी में से सूत्र सूची सहित अष्टाध्यायी के मूल पाठ को पृथक् करके सम्पूर्ण कौमुदी मनोरमा शेखर गुरू जी को दे दें और कह दें कि आप दो घंटे के अन्दर इन दोनों सूत्रों का सम्पूर्ण अर्थ बतला दें कि किन किन सूत्रों से आता है। सम्भवतः पुस्तक हाथ में लेकर भी दो घन्टे में दो सूत्रों का अर्थ करना कठिन है। "अस्यमध्वः" पिबत मादयध्वम" यह यजुर्वेद के अध्याय ९ का १८ वाँ मन्त्र है। यह "मध्व" शब्द मधु प्रातिपदिक का षष्ठी का बहुवचन है। इस मंत्र की व्याख्या करते हुये महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं मध्व मधुनो मधुरसस्य अत्र कर्मणि षष्ठी। उव्वटाचार्य भी "मध्व" मधुनः लिखते हैं और यही व्याख्या "मध्व" मधुनः पिबत कर्मणि षष्ठी। आचार्य महीधर ने की है। गुरू जी से कहें कि

कौमुदी मनोरमा शेखर आदि सब ग्रन्थ आपकी सेवा में उपस्थित करते हैं, अर्थ विभक्ति वचन सब हमने बतला दिए हैं आप मध्व शब्द को सिद्ध कर दें और अष्टाध्यायी देखें नहीं। गुरूजी के लिए यह बड़ी कठिन समस्या है।,, सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पि का से ही पीछा छुड़ाने का प्रयत्न करेंगे। ये उपरोक्त प्रश्न सब साधारण हैं जिस छात्र ने एक या डेढ़ 'वर्ष परिश्रम करके अष्टाध्यायी की प्रथमावृति भी कर ली है वह भी इन सब प्रश्नों का उत्तर बिना कोई पुस्तक लिये मिनटों में दे सकता है गुरू जी न तो सूत्रों का अर्थ ही प्रमाणिक कर सकते हैं और न शब्द सिद्धि ही कर सकते हैं इसी कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती ने लिखा है। जो योग्यता अष्टाध्यायी और महाभाष्य को पढ़ने से ३ वर्ष में हो सकती है वह कौमुदी मनोरमा आदि को पढ़ने से ५० वर्ष में भी नहीं हो सकती।,,

दुख के साथ लिखना पड़ता है कि ऐसा होने पर भी लोग यही कहते हैं कि सर्व प्रथम अष्टाध्यायी नहीं पढ़नी चाहिये किन्तु कौमुदी पढ़नी चाहिये। वे भूल में हैं उन्होंने विचार कर नहीं देखा बिना कौमुदी लिये अष्टाध्यायी पढ़ कर पूर्ण वैयाकरण हो सकता है परन्तु अष्टाध्यायी को बिना पढ़े वह कौमुदी पढ़ ही नहीं सकता, सिद्धान्त कौमुदी के प्रकरणों से ही सिद्ध है कि अष्टाध्यायी पढ़ना चाहिये ....प्रत्ययः सूत्र की वृति में दीक्षित जी लिखते हैं आपन्चमपरि समाप्तेरधिकारोऽयम् "परश्च" अयमपि तथा। "ङ्याप्प्रातिपदिकात"ङ्यन्तादाबन्तात्प्रा-

तिपदिकाच्चेत्या पंचमपरिसमाप्तेरधिकारः। जिसने पांचवां अ-ध्याय न पढ़ा न कण्ठ किया उस बिचारे को क्या पता कि पंचवीं अध्याय तक कौन सूत्र हैं। प्रागीश्वरान्निपाताः क्या पता कि अधिरीश्वरे से पहिले कौन २ सूत्र हैं। "आकडारादेका संज्ञा कडाराःकर्मधारये तक कौन २ सूत्र हैं। पूर्वत्रासिद्धम् सूत्र की प्रवृत्ति कहाँ २ होती है असिद्ध वदत्राभात् यहां से आगे कौन २ सूत्र हैं। एक पूर्व परयो के अधिकार में कौन २ सूत्र हैं इत्यादि प्रकरण ऐसे हैं। जो पूर्णतया तभी आसकते हैं जब कि अष्टा-ध्यायी पढ़ी जाये अन्यथा नहीं। सिद्धान्त कौमुदी ग्रन्थ ऐसा है कि यदि अष्टाध्यायी जगत में न रहे तो यह ग्रन्थ एक पद भी नहीं चल सकता। अष्टाध्यायी ग्रंथ अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है।

जिस तरह मैंने यह स्पष्ट किया है कि कौमुदी ग्रन्थ को जो पढ़ते हैं और अष्टाध्यायी को नहीं पढ़ते उनके मार्ग में ये कठिना-इयाँ आती हैं उसी तरह कौमुदी के अनुयायी कोई ऐसी उलझन दिखावें जो अष्टाध्यायी के छात्रों के सामने आवें और जिनके कारण से वे पूर्ण वैयाकरण न हो सकें।

व्याकरण के सुविख्यात

पं० श्री ईश्वरदेव जी उपाचार्य गुरुकुल चित्तौड़गढ़

१—अष्टाध्यायी—के सूत्र यदि ठीक उसी स्थान पर न हो तो व्याकरण शास्त्र में बड़ा घपला हो जाय...एक बार विवाह के अवसर पर शास्त्रार्थ होगया उसमें विरुद्ध पक्ष को अशुद्धकरने के

लिए कहा कि यह सूत्र त्रिपादी का है बस इतना कहना कि पं० जी चुप (यद्यपि बात ऐसी न थी)। यह बात तो निर्विवाद है कि कोई भी बिना अष्टाध्यायी के क्रम के संदेशरहित होकर व्याकरण में विचार नहीं सकता।

२—अष्टाध्यायी के क्रम को छोड़ कर और किसी क्रम से सूत्रों के अर्थ स्मरण करना ...अत्यन्त ही कठिन है। जिसे वे ही विद्यार्थी बता सकते हैं जिनको पुस्तक के प्रथम ही प्रकरण में कह दिया जाता है कि बुद्धि को ताक पर रक्खो और फिर समझ लो कि—सूत्रेष्वदृश्यं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र यही सब कारण है कि जो व्याकरण ४ वर्ष में अच्छी तरह पढ़ा और पढ़ाया तथा स्मरण किया जा सकता है। उसको पढ़ने के लिये कम से कम १२ वर्ष लगा कर व्याकरणाचार्य बना जाता है और इतने पर भी अधूरा रह जाता है।...इतना काल लगा कर फिर इस शास्त्र का पालन कैसे करेगा कि—ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।" हां यदि मनुष्य को जीवन का इतना बड़ा भाग व्यर्थ खोना इष्ट हो तो कौमुदी के क्रम से पढ़े।

३—यदि अष्टाध्यायी के क्रम से बोध नहीं हो सकता तो क्यों नहीं सि० कौ० के क्रम से ही सूत्र बना लेते अथवा जिन लोगों ने परम-पुरुषार्थ से वैसे सूत्र घड़ डाले हैं उसी विधि से पठन पाठन क्यों नहीं कर लेते।—कौमुदी पढ़ने वालों का कहना है कि इस ग्रन्थ में कोई अशुद्धि नहीं है यह उनकी भूल है, उस

पोथी में कई सौ भूले हैं—पाठकों के मनोरंजनार्थ सिद्धान्त कौमुदी के व्याख्याता श्री पं० नागेश भट्ट ने जो लगभग सभी प्रकरणों से सैकड़ों अशुद्धियाँ निकाली हैं उन्हीं में से एक स्थल का उदाहरण मैं यहाँ रखता हूं।

सि० कौ० में यङ् लुगन्त प्रकरण में—आशिषि तु वध्यात् अवधीत् अवधिष्टाम् इत्यादि वधादेशस्य द्वित्वं न भवति, स्थानियत्वेन अनभ्यासस्येति निषेधात् तद्विध समानाधिकरणं धातो र्विशेषणम् बहुब्रीहि बलात् '—इस स्थल पर सि० कौ० कार ने कृत द्विवचन जो यङ् लुगन्त धातु उसके अभ्यास और अभ्यास से पर खण्ड उन दोनों के स्थान में वध् आदेश माना है जो "दयतेर् दिगि लिटि' इस सूत्रस्थ भाष्य के विरुद्ध है।—इसी बात को नागेश इन शब्दों में लिखते हैं।"७।४।६।सूत्रस्थ भाष्य विरुद्धमपी माधवानुरोधेनोक्तम्।" ७।४।१। भाष्य विरुद्ध होने पर भी माधव के अनुरोध से कहा है।

उपरोक्त पंक्तियों द्वारा मैंने यह दर्शाने का यत्न किया है कि व्याकरण अष्टाध्यायीस्थ क्रम से पढ़ने पर अल्पकाल में ही दृढ़ बोध कराने वाला है। और बहुत काल व्यय करने पर भी यथार्थ बोध कौमुदी से नहीं हो पाता। बोध के अलावा इस ग्रन्थ में अशुद्धियाँ भी कई सौ हैं।

स्वतन्त्रानन्द पुस्तकालय (अमृतसर) के अध्यक्ष

श्री प० भूपालसिंह जी शास्त्री

इसमें कोई भी सन्देह नहीं कि अष्टाध्यायी व्याकरण का

प्राण है और सिद्धान्त कौमुदी उसके सामने एक बड़ा भारी जगडवाल। जितना परिश्रम विद्यार्थी सिद्धान्तकौमुदी में करता है और जितना समय लगता है उससे कहीं कम परिश्रम और कम समय में वह अष्टाध्यायी के द्वारा व्याकरण की विशेष योग्यता प्राप्त कर सकता है, यदि अध्यापक महानुभाव अष्टाध्यायी के मर्म का ज्ञाता मिल जाये और वह विद्यार्थी के साथ कुछ परिश्रम करना गवारा भी करे। सिद्धान्तकौमुदी पढ़ते समय विद्यार्थी को सूत्रों के साथ उनकी वृत्ति, उदाहरण और पंक्तियां भी घोटनी पड़ती हैं, फिर भी वह यह दावे से नहीं कह सकता अथवा समझा सकता कि जो सूत्रार्थ मैं कर रहा हूं वह बिलकुल ठीक है। इसके मुकाबले में अष्टाध्यायो पढ़ने वाला अपने अर्थ के विषय में निसन्देह होगा। सिद्धान्तकौमदी पढ़ने वाला महाभाष्य को उतनी उत्तमता से न समझ पायेगा जितनी उत्तमता के साथ अष्टाध्यायी पढ़ने वाला।

वानप्रस्थ श्री प० बसन्तलाल शर्मा

महोपदेशक—आ० प्र० स० संयुक्त प्रान्त ।

इस विषय (व्याकरण पाठ विधि-विषय) में ऋषि दयानन्द सरस्वती जी का लेख सत्यार्थ-प्रकाशादि में अति स्पष्ट है अर्थात् व्याकरण शास्त्र अष्टाध्यायी के अध्ययन से ही आ सकता है सिद्धान्त कौमुदी से नहीं। सिद्धान्त कौमुदी से व्याकरणाध्ययन न करने के अनेक कारण हैं यथा—

१—वृत्तिसहित सूत्र रटने में अति प्रयास होता है ।

२—ऐसा करने पर भी सूत्रों का आनुपूर्व्य और एकीकरण सिद्धान्त कौमुदी से नहीं आ सकता।

३—पौराणिकतादि के भाव छात्र में प्रवेश करते हैं।

४—सिद्धान्त कौमुदी महाभाष्य के विरूद्ध व्याकरण सिखाता है। इत्यादि अनेक दोष सिद्धान्त कौमुदी से व्याकरण पढ़ने में हैं।

संस्कृत के उद्भट विद्वान

श्री पं० भद्रसेन जी आचार्य विरजानन्द

वेद विद्यालय अजमेर

मेरे विचार में कौमुदी को अपेक्षा अष्टाध्यायी का पाठ्य-क्रम बहुत सरल है। अत: मेरे विचार में जितना व्याकरण का शीघ्रबोध अष्टाध्यायी से हो सकता है उतना कौमुदी से नहीं। इसके निम्न कारण हैं जिन्हें संक्षेपत: यहां लिखता हूँ।

१—कौमुदी का पढ़ने वाला जब तक सूत्र के अर्थ को घोट न ले तब तक न तो वह सूत्रार्थ को स्मरण रख सकता है, न समझ सकता है और न ही पूछने पर समझा सकता है। यदि किसी कौमुदी पाठक से पूछा जाय कि "उश्च" १। २। १२ इस छोटे से सूत्र का ऋवर्णान्त परो झलादी लिङ् तङ् परः सिच्चेत्येतौ कितौ स्तः इतना लम्बा चौड़ा अर्थ जो कि तुमने कौमुदी से याद किया है कैसे हुआ तो वह नहीं बता सकता क्योंकि उसे सूत्रों का क्रम याद न होने से वह ऊपर से अनुवृत्ति ही नहीं ला सकता।

इसके विपरीत अष्टाध्यायी का पढ़ने वाला बिना सूत्र के अर्थ को कण्ठस्थ किये सूत्र के अर्थ को सूत्र से ही समझ सकता है तथा पूछने पर बता सकता है क्यों कि उसे सूत्रों का क्रम याद है अतः वह ऊपर से अनुवृत्ति लाकर सूत्र का अर्थ सूत्र समझ तथा समझा सकता है। उसे सूत्रार्थ कण्ठस्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं। अतः सूत्रार्थ के कण्ठस्थ करने का भारी परिश्रम अष्टाध्यायी अध्येताओं को नहीं करना पड़ता और न ही इसके लिए व्यर्थ समय नष्ट करना पड़ता है। यही कारण है कि अष्टाध्यायी के पढ़ने वाले जितने समय में दस सूत्र पढ़ लेते हैं कौमुदी के पढ़ने वाले उतने ही समय में मुश्किल से दो तीन सूत्र ही पढ़ पाते है मैं जब काशी में श्री पं० हरिनारायण जी तिवारी से महाभाष्य पढ़ता था तो उनके पास कौमुदी के पढ़ने वाले भी आया करते थे वे पर्याप्त समय पढ़ने पर भी कठिनता से चार पांच सूत्र ही पढ़ पाते थे और उतने समय में यहां विद्यालय में विद्यार्थी बीस २ सूत्र पढ़ते हैं।

२—दूसरा कारण कौमुदी से शीघ्रबोध न होने का यह है कि कौमुदी पाठक को मूल व्याकरण (शब्द सिद्धि) के समाप्त करने से पूर्व ही द्वितीयावृत्ति (फक्किका आदि) को मूलव्याकरण के साथ ही घोटना और समझना पड़ता है। इससे जहाँ उसका समय बहुत नष्ट होता है वहाँ बुद्धि पर भी बहुत जोर पड़ता है अतः न तो वह सम्पूर्ण मूलव्याकरण को ही भली भाँति ग्रहण कर पाता है और न द्वितीयावृत्ति अर्थात् फक्किका आदि का भली प्रकार

समझ पाता है इसके विपरीत अष्टाध्यायी अध्येता को सर्व प्रथम मूलव्याकरण (शब्द सिद्धि) की प्रथमावृति भली प्रकार पढ़ लेने के पश्चात उसे द्वितीयावृति [शंका समाधान आदि] पढ़ाई जाती है अतः अष्टाध्यायी का छात्र जहां शब्द सिद्धि [जो कि व्याकरण का मुख्य उद्देश्य है] को भली प्रकार हृदयङ्गम कर लेता है वहाँ द्वितीयावृत्ति अर्थात फक्किका आदि के समझने में भी उसे कोई कठिनता नहीं पड़ती।

३—तीसरा कौमदी को पढ़ाना मैं इसलिये भी उचित नहीं समझता कि उसमें कहीं २ पाणिनि और भाष्यकार के आशय को न समझ कर उनके विरुद्ध लिख दिया है। जैसे "र" प्रत्याहार आदि इससे कौमुदी पाठक को महाभाष्य और पाणिनि के आशय के अनुसार व्याकरण का यथार्थ बोध नहीं हो सकता।

४—चौथा-व्याकरण का उद्देश्य जहाँ लौकिक भाषा को जानना है वहाँ वैदिक भाषा को भी भली प्रकार जानना है किन्तु भट्टोजि दीक्षित ने वैदिक व्याकरण को लौकिक व्याकरण से बहिष्कृत कर कौमुदी के अंत में रख दिया है। कई परीक्षाओं में तो उपर्युक्त वैदिक व्याकरण पढ़ाया ही नहीं जाता। अतः ऐसे सज्जनों को वेदार्थ में बड़ी कठिनता पड़ती है, और वैदिक व्यत्यय तथा सुपां सुलुक० आदि के नियमों को न जानने के कारण वे सज्जन वेद के अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। अतः रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम" महाभाष्य में बताये इस उद्देश्य को वे पूर्ण ही नहीं कर पाते।

इन सब कारणों से मैं अष्टाध्यायी को पढ़ाना ही अधिक श्रेयस्कर समझता हूं। किन्तु खेद से कहना पड़ता है कि आज कल ऋषि प्रदर्शित आर्ष-शिक्षा प्रणाली की आर्य संस्थाओं में ही अवहेलना हो रही है। यही कारण है कि आर्य संस्थाओं में से

पूर्ण विद्वान्, ऋषि तथा वेदभक्त, और आर्य समाज के सच्चे सेवक नहीं निकल रहे। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक आर्य संस्थाओं में ऋषि प्रदर्शित आर्य प्रणाली का पठन पाठन नहीं होगा तब तक इन संस्थाओं से पूर्ण विद्वान, वैदिक धर्म के सच्चे सेवक निकल ही नहीं सकते। प्रभु हमें सद्बुद्धि प्रदान करें कि हम ऋषि के पद चिन्हों पर चलते हुए उनका दर्शाई आर्ष शिक्षा प्रणाली के प्रसार में अग्रसर हों।

प्रसिद्ध टीकाकार विद्यावाचस्पति

श्री प० वाचस्पति जी एम० ए० बी० एस० सी०

अष्टाध्यायी द्वारा व्याकरण पढ़ने में न्यून परिश्रम करना पड़ता है, कौमुदी द्वारा अधिक परिश्रम करना पड़ता है, क्योंकि कौमुदी पढ़ते समय यदि व्याकरण में योग्य होना (हो) तो वृत्ति को भी कण्ठ करना पड़ता है, परन्तु अष्टाध्यायी का क्रम ही इस प्रकार का है कि एक बार गुरुमुख से पढ़ लेने पर अर्थ स्वयं लगता जाता है इस प्रकार से अष्टाध्यायी पढ़ने में चौथाई परिश्रम भी नहीं पड़ता क्योंकि वृत्ति प्रायः सूत्रोंकी अपेक्षा तिगुणी व चौगुणी होती है

(२) कौमुदी ने वेद के प्रचार में बाधा डाली है। अष्टाध्यायी में वेद के सूत्र भी सब प्रकरणों में साथ २ ही आते हैं, कौमुदी (में) उनको निकाल कर पृथक अन्त में फेंक दिया गया है। कौमुदी वाले वैदिक सूत्रों के साथ उन अछूतों का सा व्यवहार किया गया है, जो गाँव से बाहिर रहते हैं। जैसे हिन्दुओं ने शताब्दियों से अछूतों के साथ बुरा व्यवहार करके कष्ट उठाया हैं, इसी प्रकार से व्याकरण पढ़ने वालों और विशेष कर परीक्षाओं के लिये व्याकरण पढ़ने वालो ने वेद सम्बन्धी सूत्रों का पठन सर्वथा छोड़ दिया और इससे पूर्व ही व्याकरण की

समाप्ति समझ ली और लोग केवल काव्य, नाटक ही पढ़ने लगे और वेद के व्याकरण के साथ अछूतों का व्यवहार करते ? स्वयं शूद्रत्व को प्राप्त हो पददलित हुए; क्योंकि महर्षि मनु ने कहा है।

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुतेश्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥

प्रोफेसर श्री प० धर्मेन्द्रनाथ जी शास्त्री
व्याकरण तीर्थ—देहली।

प्रश्न यह है कि क्या इसमें पाणिनि कृत अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या और उदाहरण सही दिये गए हैं या नहीं। हम यह सिद्ध करेंगे कि कौमुदी कार ने अनेक स्थलों पर पाणिनि कृताष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या और उदाहरण ही नहीं दिये हैं और बहुत स्थलों पर सूत्र लिख कर ही बेगार टाल दी है। जिन सूत्रों का उदाहरण देना कौमुदी कार के मस्तिष्क से ऊपर की बात थी या प्रमादवश ऐसा नहीं किया जैसे 'बहुलं छन्दसि' अष्टाध्यायी में ११ सूत्र हैं और कौमुदी कार ने ५ सूत्रों के उदाहरण देकर बाकी सूत्रों से व्यर्थ ही कौमुदी के पृष्ठ काले किए हैं। 'पूर्वत्रासिद्धम्' यह अधिकार सूत्र है इससे सवासात अध्याय के प्रति त्रिपादि असिद्ध होते है और त्रिपादियों में भी पूर्व प्रति शास्त्र असिद्ध माना जाता है जिसके कुल उदाहरण ही नहीं दिखाए हैं। ऐसी अवस्थामें यह प्रश्न उठना आवश्यक है कि कौमुदी पाणिनिकृत अष्टाध्यायी की समुचित व्याख्या कर सकी है या नहीं अगर नहीं तो विद्यार्थियों को पढ़ा कर उनका समय नष्ट करना कौन बुद्धिमत्ता है ऐसा अवस्था में या तो काशिका की पठनपाठनशैली आरम्भ की जाय या किसी उचित योजना द्वारा इसका पठन-पाठन आरम्भ किया जाय।